श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला २२६

हिन्दी

पातञ्जलयोगसूत्रम्

('भावप्रकाशिका' हिन्दी व्याख्यासमेतम्)

डा० महाप्रभुलाल गोस्वामी
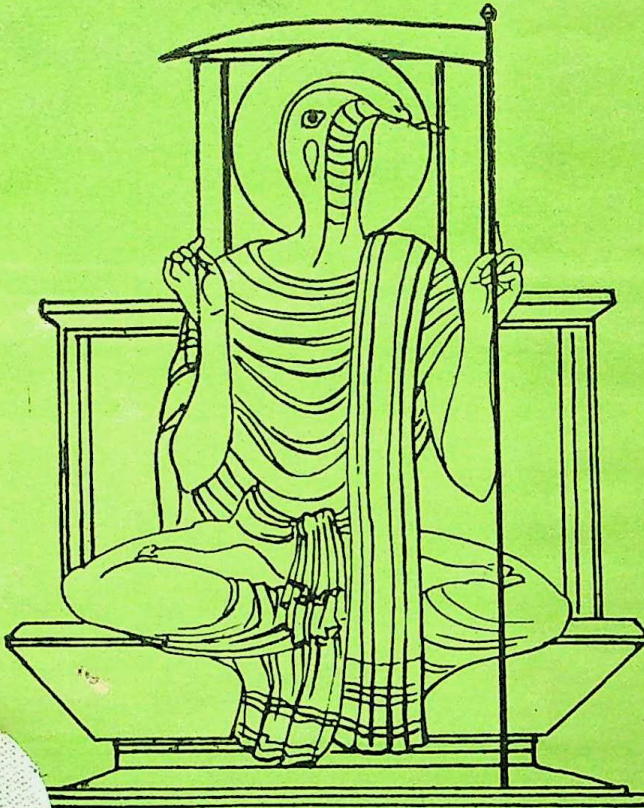
पातञ्जलाभिधं रक्तं सर्पवक्त्रंसुतेजसम् ।
अक्षसूत्रं पताकाञ्च दधतं कुण्डलान्वितम् ॥

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

पोस्ट बाक्स नं० १३९, वाराणसी

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला
२२६

हिन्दी

पातञ्जलयोगसूत्रम्

('भावप्रकाशिका'-हिन्दी व्याख्यासमेतम्)

विस्तृत भूमिका एवं भाषानुवादकर्ता

डा० महाप्रभुलाल गोस्वामी

एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्.

न्यायव्याकरणसाहित्यवेदान्ताचार्यमीमांसाशास्त्री

(लब्धस्वर्णपदत्रय)

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०४०

मूल्य : रु० २५-००
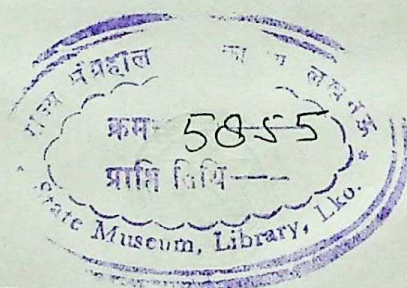
अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्भा विश्वभारती

पोस्ट बाक्स नं० ८४
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६५४४४

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
226
*****

PĀTAÑJALAYOGASŪTRA

with
Hindi Commentary Bhāvaprakāśikā &
Exhaustive Hindi Introduction

of

Dr. MAHAPRABHULAL GOSWAMI
M. A., Ph. D., D. Litt.

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature
P. O. Chaukhambha, P. Box No. 139
Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASI (INDIA)

पण्डितप्रवरापरधन्वन्तरिकविराज

श्रीव्रजमोहनदीक्षितजी

को

सादर समर्पित—

साध्यं सदा मतिमता व्रजमोहनेन
सर्वत्र लोकहितदेन विधाय कम्रम् ।
किं किं न लोकदुरितं त्वरितं व्यनाशि
योगं कृपैकसदनाय समर्पयेऽहम् ॥ १ ॥

प्राक्कथन

योग का उद्भव:—

वैदिक साहित्य सुसम्बद्ध आदिमानव की समग्र भावना के विदग्ध मनन की सृष्टि है। इसका रचयिता अलक्ष्य है, किन्तु सिद्धान्त ध्रुव पद के रूप में आर्य भावना का वहन कर रहा है। इसमें दीर्घकालव्यापिनी सुनियन्त्रित साधना का परिनिष्ठित रूप है, जो विश्व के मानवों के संवित्प्रकर्ष का अनतिवर्तनीय संकेत है। सनातन मानव का सनातन ज्ञान योग ही वेद है।

असंख्य धारा में प्रवाहित भारतीय दर्शन का सारतम उपदेश बृहदारण्यकोपनिषत् का 'याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी' संवाद ही है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः' इस उपदेश में भारतीय जीवन प्रवाह की समग्र आशा आकांक्षा का पर्यवसान होता है। आत्मतत्व का श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही दर्शन है। आत्मतत्त्व के विश्लेषण एवं उसके साक्षात्कार के साधन और स्वरूप के निरूपण में ही योगदर्शन का भी तात्पर्य है।

योग का प्रथम आचार्य हिरण्यगर्भ को माना गया है। आचार्य वाचस्पतिमिश्र ने 'अथ योगानुशासनम्' (यो. सू. १।१) में लिखा है कि "हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः" अर्थात् योग का प्रथम प्रवक्ता हिरण्यगर्भ ही है। पतञ्जलि मुनिने भी इसी की अभिव्यक्ति के लिए 'अनुशासन' शब्द का प्रयोग किया है। अप् ने प्रथम सृष्टि के रूप में भ्रूण को धारण किया। यह अज की नाभि में अर्पित था, जिसके मध्य में विश्वभुवन था। यह प्रथम भ्रूण या गर्भ ही हिरण्यगर्भ था। एक सूक्त का द्रष्टा भी हिरण्यगर्भ[1] है।

---

१. भास्वती के अनुसार कपिल ही हिरण्यगर्भ है। "हिरण्यगर्भोऽत्र परमर्षेः कपिलस्य संज्ञाभेदः ।······हिरण्यगर्भाख्यया पूजितः। (भा० १।१)

हठयोगदीपिका के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यगर्भ ने स्वाध्यायशील ऋषियों को योग का उपदेश दिया। "स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः" २।४४ इसकी सार्थकता यह मानने पर ही होती है। वस्तुतः, ज्ञानात्मक अज की अनेक रूप में होने की इच्छा और संकल्प प्रबुद्ध हुआ, विषय की आवश्यकता हुई, नार निर्मल चित्त जल के समान था। अतृप्त हिरण्यगर्भ क्षुब्ध हो

तम् इदं गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे,
अजस्य नाभावध्येकम् अर्पितम् यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः।
(ऋ०१०।८२।६)

हिरण्यगर्भ सूक्त के प्रथम श्लोक में कहा—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेय॥
(ऋ० १०।१२१।१)

इस मन्त्र से यह सिद्ध है कि हिरण्यगर्भ का जन्म हुआ; ब्रह्माण्ड शरीर प्रजापति, जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज इन चारों भूत समूहों अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति में प्रथम स्थान इसी का है। भूत का यह एकमात्र ईश्वर था। उसके बाद ईशान आता है जो चैतन्य का स्वधर्म है। इसी प्रकार शिव को भी योग का आचार्य माना जा सकता है, क्योंकि परवर्ती सभी योग सम्प्रदाय या योगियों का समूह शिव का ही उपासक रहता है, और शिव का योग मुद्रा में, या समाधि की स्थिति में वर्णन पौराणिक युग से आधुनिक युग तक उपलब्ध है। ईशान शिव का अपरपर्याय है।

इस प्रसङ्ग में निष्पक्ष दृष्टि से विवेचन किया जाय तो यह आर्यों के द्योतनात्मक देव से ही इसकी भी उत्पत्ति है। हिरण्यगर्भ भी तेज का ही प्रतीक है।

योग के आचार्यों की योगेश्वर ने जो परम्परा निर्दिष्ट की है उसके साथ समन्वय करने पर आदित्य को ही योग का प्रथम आचार्य मानना होगा। अज, विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, यह क्रम निर्दिष्ट किया है। योग चतुष्पाद के रूप में विश्व की विभूति है। इसके द्वारा अक्षर स्वरूप ब्रह्म का निर्देश हो रहा है।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ (गी. ४।१)

कूटस्थ अज के द्वारा प्रथम योग का उपदेश आदित्य को प्राप्त होता है। आदित्य से मनु को, मनु से इक्ष्वाकु को, इक्ष्वाकु के द्वारा यह आज तक

उठा एकाकी तपस्या में लीन का संक्षोभ, संक्षोभ का विषय भूतवर्ग हुआ। यह योग क्रियात्मक शक्ति के आधार पर बढ़ने लगा। लयावस्था में विक्षोभ की शान्ति के साथ हिरण्यगर्भ की सङ्कल्प, इच्छा के उपरम से स्वरूपावस्थान होता है। अतः अज, हिरण्यगर्भ यह सृष्टि क्रम और हिरण्यगर्भ, अज यहाँ लय-क्रम है।

परम्परा क्रम में उपलब्ध है। अब यह विचारणीय है कि विवस्वान् कौन है ? व्योममण्डल के आदित्य का इससे क्या सम्बन्ध है ? सूर्य के पुत्र मनु और मनु के पुत्र इच्वाकु, इच्वाकु सूर्यवंश के आदि राजा हुए। सूर्य का अधिष्ठातृ देव अज है और पौराणिक एवं स्मृतियों की भूमिका में हिरण्यगर्भ के द्वारा सृष्ट सूर्य है।

शास्त्रैकगम्य अनन्त आनन्द, चैतन्य, एकरस, कूटस्थ ने अपने को योग शक्ति के प्रभाव से संस्कृत मन से सृष्टि की। जिस सृष्टि में किसी उपादान की आवश्यकता न हुई। अतः कूटस्थ ही योग का प्रथम प्रवर्तक है और इसका परिज्ञान हिरण्यगर्भ की सृष्टि से होता है अथवा आदित्य जो अखण्ड चैतन्य या ज्योति का प्रतीक है जिसे आर्य भावना का वहनकर्ता दीप्ति माना गया है, वही इसका व्यक्त प्रवर्तक है। आविर्भाव योग के विना सम्भव नहीं है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के सप्तम पद्य के द्वारा सूक्ष्म अव्यक्त सनातन चराचरात्मक निखिल प्रपञ्च के कारण को अचिन्त्य माना और योग के द्वारा जिसने उद्भूत जल अर्थात् (अप्) शरीर को धारण किया। प्रकृत में 'उद्बभौ' शब्द दिया गया है, साथ ही स्वयम् शब्द का प्रयोग अतिशय मार्मिक है, स्वय-मुद्बभौ अर्थात् स्वयं प्रकाशित हुए, यह प्रकाश अन्य दीप्ति सापेक्ष नहीं था। दीप्ति अर्थ को कहने वाला 'भा' धातु का यही अर्थ विवक्षित है। प्रथम जल की सृष्टि कर उसमें बीज का निक्षेप किया। जिसकी संज्ञा हिरण्यगर्भ थी। यह सृष्टि सङ्कल्पात्मक थी। इस अण्ड को सहस्र सूर्य के समान ज्योतिर्मय कहा गया है। अप् का अर्थ नर, नर ही नार होता है और यह अयन अर्थात् आश्रय है, अतः इनकी संज्ञा नारायण है। इस प्रसङ्ग में यह ध्यान देने योग्य है कि नारायण अज को गीता के आधार पर योग का आदि प्रवर्तक कहा गया है और अन्यत्र हिरण्यगर्भ को। किन्तु, यह कथन परस्पर विरुद्ध नहीं है, क्योंकि योग का प्रयोग सङ्कल्पात्मिका सृष्टि के रूप में अज से चलता है और पुनः योगज हिरण्यगर्भ को, जो योगज फल है, अतः इसीको प्रथम सृष्ट क्रम में प्रवर्तक मानना ठीक ही है, क्योंकि व्यक्तभाव से यही योग का प्रवर्तक है।

वैदिक दृष्टि में आदित्य :—

वैदिक साहित्य का प्रधान उपजीव्य देववाद को कहना अनुचित नहीं है। किन्तु यह देवत्व ज्योतिस्वरूप है। क्योंकि देव शब्द की निष्पत्ति दीप्ति या द्योतन अर्थ कहने वाले दिव् से होती है। यह दिव शब्द प्रकाश का बोधक है दिव, दिवा, देव इन तीनों शब्दों में एक ही भावना अनुस्यूत है। इस आलोक में बोध, जागरण, चिति, विवेक, प्रज्ञान, संवित् सन्निहित है। बोध

का यास्क ने प्राण अर्थ किया है। बुध्न यह प्रकाश एवं जागने अर्थ को लेकर ऋग्वेद से आजतक प्रयुक्त होता आया है। इसका मूल बुध् धातु ही है। यह बोध अव्यक्त से व्यक्त का ज्ञान और अन्धकार से ज्योति में आगमन है। गीता में 'विवस्वते योगं' यह शब्द प्रयुक्त है। वसु का अर्थ आलोक होता है और इसी वस् से विवस्वते, वासर, उषस्, उस्रा निष्पन्न होता है। ये सभी ज्योतिर्मय हैं। ऋग्वेद में अनेक मन्त्रों के द्वारा आदित्यगण के लिए वसु शब्द का प्रयोग मिलता है[1]। यह परम्परा वहीं समाप्त नहीं हो जाती वरन् आगे भी चलती है इसी लिए निरुक्त में वसवो यद् विवसते सर्वं··· वसवो आदित्य रसमयः विवासनात्[2]।

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के ऋषि वसिष्ठ माने गये हैं जिसका अर्थ ज्योतिष्मत्तम होता है। फारसी में वहिश्त, अवेस्ता में वहिश्त = स्वर्ग वहिश्ता = परम पुरुष का बोधक है। इस तरह परम देवता की प्राचीन संज्ञा विवस्वान् है जिसका प्रतीक सूर्य है[3] विवस्वान् की उपासना से मनुष्य भी विवस्वान् हो जाता है। सभी देव ज्योति के मूल में विवस्वान् को परम ज्योति माना गया है। अग्नि का विवस्वान् के दूत के रूप में निर्देश मिलता है। अतः अप् भी तेज का प्रतीक है। इस तरह आर्य हृदय की ज्योति के प्रति जो प्रेरणा है वही प्रेरणा हिरण्यगर्भ था, इसी दृष्टि में विवस्वान् को योग का प्रवर्तक मान कर यही सिद्ध किया है। अतः किसी भी स्थिति में चलें तो योग के प्रथम प्रवर्तक अज या नारायण को ही मानना पड़ेगा। जैसा कि गीता में कहा गया है। यही कारण है कि याज्ञवल्क्य ज्ञान योग की शिक्षा सूर्य के द्वारा ग्रहण करते हैं। वसुदेव, वासुदेव का ज्ञान जब तक नहीं होता है तब तक योग विभूति का परिचय सर्वथा असम्भव है। इस प्रकार वासुदेव विवस्वान् के द्वारा योग का प्रवर्तन सर्वथा समुचित है। 'इदं तु विश्वं भगवानिवेतरो' यह भागवत का कथन भी विश्व और विवस्वान् वासुदेव की एकता का परिचायक है। अतः वासुदेव ही सभी दृष्टियों से योग के प्रवर्तक है। यही कारण है कि इनको योगेश्वर कहा जाता है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि विवस्वान् के आदि राजा होने पर भी मेरे अन्तराल में एक संविद् रूप शक्ति है, जो विश्व का मूल उत्स एवं ज्योतिर्मय है। इसकी अन्य संज्ञा पुरुषोत्तम है। उसके अभाव में मेरी सभी

---

१. (ऋग्वेद ८।४०।५ ७।५२।१) ८।१८।१५

२. विवस्वान् १२।४१

३. ऋग्वेद १०।३९।१३

शक्तियाँ गतिहीन एवं अव्यवहार्य हो जाती है। सविता की उत्पत्ति इसीसे होती है, जो जगत् का प्राण है। गुणों की ज्योतिर्मय स्थिति में यह वरणीय भर्ग है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—

आदित्यान्तर्गतं यच्च ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम्
हृदये सर्वभूतानां जीवभूतः स तिष्ठति।
हृद्याकाशे च यो जीवः साधकैरुपवर्ण्यते
हृदये सर्वभूतानां जीवभूतः स तिष्ठति।

अर्थात् आदित्य के अन्तर्गत प्रकाश की उत्तम ज्योति है, वह सभी प्राणियों के हृदय देश में जीव रूप से अवस्थित है। परम व्योम में अवस्थित ज्योति ही हृद् व्योम में भी अवस्थित है। अतः आदि प्रवर्तक योग का हृद् ज्योतिः स्वरूप पुरुषोत्तम को मानना भी उचित है।

अद्वैतवेदान्त और हिरण्यगर्भ :—

चेतन का उपाधि जड़समुदाय है। जडव्यष्टि का उपाधि युक्त चेतन जीव कहा जाता है। जडसमष्टि उपाधि से युक्त चेतन ईश्वर है। चेतन की उपाधि स्वरूप जडवर्ग तत् तत् काल में सम्पादित अवस्था के भेद से स्थूल, सूक्ष्म और अव्याकृत के भेद से तीन प्रकार का है। पञ्चीकृत[1] अर्थात् पृथिवी, जल, तेज वायु और आकाश संवलित दृश्यमान भूतात्मक स्थूल जगत् है। इस स्थूल का कारणी भूत पञ्चीकरण प्रक्रिया से रहित भूत समुदाय सूक्ष्म है। इन सूक्ष्मभूतों का कारणमूल अज्ञान अव्याकृत है। उपाधियों के प्रदर्शित तीन भेदों के आधार पर जीव भी तीन प्रकार का है; जैसे—स्थूल व्यष्टि उपाधि युक्त जीव विश्व, सूक्ष्म व्यष्टि उपाधि युक्त जीव तैजस, अव्याकृत व्यष्टि उपाधि संवलित जीव प्राज्ञ।

---

१. पञ्चीकरण प्रक्रिया :—

पाँच तत्त्वों में एक एक को द्विधा विभाग कर आधे को बराबर चार भागों में बाँट कर प्रत्येक आधे भाग में शेष चार भूत पदार्थों का एक भाग सन्निहित करें। जैसे पृथिवी तत्त्व का दो भाग हुआ, इसमें आधे भाग को चार भाग में विभाग कर चार भागों को जल आदि के आधे भागों में पृथक् पृथक् रूप से मिलाना होगा। इसी प्रकार सभी भूत पदार्थों के भाग को मिलाकर पञ्चीकरण होता है। आधा भाग जिस भूत पदार्थ का रहता है, वह उस नाम से अभिहित होता है—पृथिवी का आधा भाग रहने पर तथा चार भाग अन्य भूत पदार्थों का रहने पर पृथिवी द्रव्य कहा जाता है।

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च उच्यते॥ (वेदान्तसा० पृ० २२)

इसीप्रकार स्थूल समष्टि उपाधियुक्त ईश्वर विराट्, सूक्ष्म समष्टि उपाधियुक्त ईश्वर हिरण्यगर्भ, अव्याकृत समष्टि उपाधियुक्त ईश्वर ईश है। इस प्रकार हिरण्यगर्भ सूक्ष्म भूत उपाधियुक्त होने के कारण स्थूल का ही कारण हो सकता है, अव्याकृत का कारण वह नहीं हो सकता है। अतः हिरण्यगर्भ की पूर्व भूमि योग की प्रभव भूमि है।[1]

आँख, कान, नासिका, जिह्वा, त्वक् इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों का क्रमशः ज्ञानशक्ति प्रधान देवता आदित्य, दिशा अश्विन्, वरुण, वायु है, वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों के क्रियाशक्ति प्रधान अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मित्र, प्रजापति देवता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द ये पाँच विषय है, ज्ञानशक्ति प्रधान अन्तः करण और क्रियाशक्ति प्रधान प्राण है। इन सत्तरह तत्वों का समुदाय लिङ्ग शरीर है, ज्ञान शक्ति की प्रधानता से हिरण्यगर्भ और क्रियाशक्ति की प्रधानता से सूत्र कहा जाता है। हिरण्य के समान प्रकाशजनक होने के कारण वह हिरण्यगर्भ है। इन समष्टियों का अभिमानी जीव भी हिरण्यगर्भ कहा जाता है। अतः इस वेदान्त दृष्टि से योग का द्वितीय हिरण्यगर्भ रूपसे प्रवर्तक जीव ही है, और प्रथम नारायण है हिरण्यगर्भ और सूत्र, संकल्प और क्रिया से युक्त जीव है।[2]

इस पूर्वोक्त विश्लेषण के आधार वासुदेव और हिरण्यगर्भ नारायण और जीवपरक होने से प्रवर्तक के विषय का मतभेद समन्वित हो जाता है।

कठोपनिषद् में भी इस विषय का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख मिलता है:— "प्राणो ह्येषः सर्वभूतैर्विभाति" (कठोप०) आगे यह भी लिखा है कि "या प्राणेन सम्भवति अदितिर्देवानाम्" (कठोप०) अदिति अखण्डना अबन्धना आद्या शक्ति है। यह विश्व में सर्वत्र एकरूप से अनुस्यूत है। दो अवखण्डने अर्थात् खण्डनार्थक दो धातु से दिति शब्द सिद्ध होता है, निषेधार्थक नञ् से दिति का समास होने से अदिति शब्द निष्पन्न होता है। अतः अखण्ड स्वरूप होने से वह सार्वभौम रूप होगी, इसी की अभिव्यक्ति इस मन्त्र से होती है:—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता सपुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

(ऋ० वे० १।८९।१०)

---

१. द्रष्टव्य—सिद्धान्त वि० श्लोक–८

२. अयममूर्तः पदार्थः कार्यत्वाद्व्यष्टौ समष्टौ च जीवोपाधिरेव

(सि० वि० पृ० ६६)

अदिति को सबके रूप में इस मन्त्र से कहा गया है। अदिति को पञ्चजन अर्थात् देव, पितर, असुर, गन्धर्व और राक्षस तथा उत्पन्न वर्तमान एवं उत्पद्यमान सभी अदिति है। 'अदितिः सर्वम्' इस कथन से भी अदिति का सार्वभौम स्वरूप वर्णित किया गया है। इसी अखण्ड ज्योतिः स्वरूप अदिति से आदित्यादि देवगण उत्पन्न हुए हैं। अतः प्रकाशात्मिका देदीप्यमाना अदिति से आदित्य है, जो स्वपरप्रकाश का सामर्थ्य रखता है। देवता की किसी भी विभूति को अपनायें, सभी अदिति के पुत्र होने से ज्योतिः स्वरूप है। अखण्ड अदिति जो सार्वभौम है उसी का पुत्र आदित्य है, अतः विवस्वान् की अज, अखण्ड के बाद स्थिति स्वाभाविक ही है। पूर्व विश्लेषण से स्पष्ट है विवस्वान् वासुदेव की ज्योतिः ही सर्वत्र अनुस्यूत है। हृदयाकाश में सहस्र सूर्यकोटि प्रतीकाश ज्योतिर्मय मण्डल है, जिनका अनुभव साधक योगी योगक्रिया के द्वारा करते हैं—वही विवस्वान् या सविता है। उनके प्रकाश से भूर्भुवः आदि लोक प्रकाशित होते हैं। इस सवितृमण्डल के मध्य में 'ज्योतिषां ज्योतिः' श्रीनारायण है। गोलोकपति पुरुषोत्तम वासुदेव साक्षात् ज्ञान स्वरूप निर्विकार कूटस्थ स्वरूप हैं, उनके द्वारा प्रकाशित शक्तिच्छटा विश्व को उद्भासित करती है। इसी की प्राण या सूर्य संज्ञा है प्रथमोत्पन्न प्रकाश होने से अखण्ड अदिति के बाद यह आदित्य या विवस्वान् आता है। विराट् विश्वभुवन की उत्पत्ति इसीसे होती है। ज्ञानधारा के सञ्चरण क्रम में आदित्य पुनः मन जो 'मनुते' के कारण मनु कहा जाता है, वह प्राण से उत्पन्न होता है। 'मनोनाथः मारुतः' मनका अधिपति प्राण हुआ।

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते॥

दृश्यमान सभी जागतिक पदार्थ ब्रह्म सत्तारूप प्राणशक्ति में स्पन्दित हो रहे हैं, यह ब्रह्माण्ड उसी से निःसृत है।

यह कहा जा सकता है कि मन ही सङ्कल्प रूप में सभी कार्यों का कर्ता है.:—

मनः करोति पापानि मनो लिप्येत पातकैः।
मनश्च तन्मनो भूत्वा न पुण्यैर्न च पातकैः॥

आध्यात्मिक दृष्टि से वासुदेव अर्थात् अखण्ड ज्योति का सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। सर्वव्यापी अखण्ड ज्योति वासुदेव मन्त्रमूर्ति अमूर्तिक योगैकगम्य मन्त्र चैतन्यात्मक रूप में वह अन्तः श्वास-प्रश्वास के रूप में सदा अनुभूत होता है—"निःश्वासश्वासरूपेण मन्त्रोऽयं वर्तते

प्रिये"। यदि सम्पूर्ण शरीर योग के द्वारा सभी प्राणशक्ति अर्थात् प्राण वायु का सञ्चरण हो सके तो शारीरिक भूत शुद्धि हो जाती है। भूतशुद्धि मन्त्र का चैतन्य और कूटस्थ इच्छा मात्र से बिन्दु रूप में अन्तः प्रविष्ट होता है, यह योगज गर्भाधान क्रिया है। पुनः वही वायु महत्तेजो रूप होकर आविर्भूत होता है, ऊँकार ध्वनि रूप नाद होता रहता है, जो आहत के विना ही होता है, इसीसे परे बिन्दु है। यह बिन्दु भी भ्रू के मध्य में दृष्टि को स्थिर कर आँखों से ही देखा जाता है। बिन्दु की स्थिरता सामरस्य है। भ्रूमध्य में देदीप्यमान कूटस्थ ज्योति ही प्रज्वलित है और वह कूटस्थ रूप में हृदयस्थ है।

तेजोबिन्दुः परं ध्यानं विश्वातीतं हृदि स्थितम् ॥

इस तरह प्राण जागतिक पदार्थ को स्पन्दित करता है और उस प्राण का स्पन्दन अखण्ड वासुदेव से होता है। "यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्" वस्तु का ध्वंस अणु मात्र में परिणत होना है और वही अदिति या बिन्दु है। मनकी एकाग्रस्थिति में षडैश्वर्य सम्पत्ति प्राप्त होती है। फलस्वरूप जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख, क्षुधा, तृषा आदि छ विकारों का लोप होता है। यह वही योग की स्थिति है जहाँ अनेक दीप्तियाँ आती है। मन इनको देखता है और मन के अभिप्राय की अभिव्यक्ति इन्द्रियादि निरपेक्ष होकर होती है— अतः यही मन मनु है जो धर्म संस्थापन के लिए पुनः पुनः आता है। इस अवस्था में दीप्ति के प्रकर्ष से ज्योतिः पुञ्ज ही राजा के द्वारा अभिहित होता है, राजृ दीप्तौ से राजा निष्पन्न हैं अतः मनु विवस्वान् के अनन्तर तृतीय योग क्रिया के द्वारा धर्म संस्थापक है।

मन जबतक बाह्य दृष्टि से युक्त रहता है तक तक वह विषय के उपभोग में लगा रहता है, और साधनशील होकर हृदय में प्रवेश कर उसकी अन्तर्दीप्ति का प्रकाशक होता है, मन की अन्तर्दृष्टि का प्रकाश ही इक्ष्वाकु है, इक्ष्वाकु की उत्पत्ति मन से होती है। यह मन की प्रज्ञाचक्षु की अवस्था है। इष्-धातु से इषेः क्सुः (उ० ३।१५७) सूत्र में इक्षुमाकरोति या इक्षुभवति गच्छति बाहुलकादुण् प्रत्यय करके इक्ष्वाकु शब्द निष्पन्न है। अतः, भूतपति हिरण्य-गर्भ के बाद गतिशील सूर्यवंश की परम्परा में इक्ष्वाकुवंश ज्ञान, इच्छा और क्रिया की अवस्था है।

इस प्रकार हिरण्यगर्भ की स्थिति समष्टिकारण शरीर और महत्तत्त्व की स्थिति में है। इससे पूर्व योग की अनेक सोपान परम्परायें है। इसी अर्थ को रहस्यात्मक रूप में अभिव्यक्त करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है :—"परिपूर्णस्य खण्डनाभावान्न क्रोधादय उत्पद्यन्ते, अतः परमहङ्कारं परमोत्साहं संविदात्मकं

गृहीत्वा क्रोधमविद्यात्मानं शत्रुं जहीति शिवम्[1]"। अर्थात् परिपूर्ण अखण्ड है उसका खण्डन न होने से क्रोध आदि उत्पन्न नहीं होते हैं, परम अहङ्कार, परम उत्साह संविद् (अन्तः प्रकाशरूप) को ग्रहण कर अविद्यात्मक क्रोध पर विजय प्राप्त करे।

योग प्रक्रिया :—

यह ज्ञातव्य है कि शरीर ब्रह्माण्ड का शुद्ध आयतन है—

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः।
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि मे मतः॥

इस शरीर का मूल सहस्रार है जो विष्णु का परम पद है।

जिसका चित्त प्राण ब्रह्मरन्ध्र सहस्रदल कमल में लीन हो जाता है, वह अपनी इच्छा के अनुसार अणिमादि ऐश्वर्यों की प्राप्ति में समर्थ होता है :—

अस्मिन् लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते।
अणिमादिगुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः॥

इस परम पद से इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा प्रवाहित होती है। उस परम व्योम में संविद् रूप ज्योतिः पुञ्ज का स्वयं प्रकाश प्राप्त होता है।

इस योग की क्रिया का संक्षेप में संकेत इस प्रकार किया जा सकता है—

संसार के समत्व की भावना से लोककल्याण की एषणा योग का परम प्रयोजन है।

आध्यात्मिक दृष्टि से तत्त्वों का विश्लेषण करने के लिए योग की अवतारणा की जाती है बुद्धि में प्रतिबिम्बित आत्मतत्त्व का साक्षात्कार ही नित्य शान्ति है। इसीलिए योग और समत्व अपर पर्याय है, जब तक सकल प्राणियों के साथ समत्वभाव प्राप्त कर तदनुरूप आचरण में प्रवृत्ति नहीं हो जाती है तब तक यह निष्फल है, क्योंकि समष्टि के साथ समत्व ही योग है। स्वार्थ और कारुण्य इन दो मूल आचारों को ग्रहण कर ही प्रवृत्ति होती है। प्राणिमात्र में चेतन की अनुस्यूतता मानने पर किसी की भी हानि स्वार्थ की हानि होगी। मानव एक अङ्गी है, अतः किसी भी अङ्ग भूत की क्षति विराट् की हानि होने से सतत सकल प्राणियों के प्रति कारुण्यमूलक प्रवृत्ति होती है। 'चेतनश्चेतनानाम्' इत्यादि श्रुतियाँ समत्व के मनन की श्रुति है।

---

१. गीता० टी० पृ० १८१

योगी उस विराट् को अवगत करने के लिए मनको आत्मस्थ करते हैं। दूसरे शब्दों में यह आत्मरमण है, कबीर ने भी इसी आशय से कहा है— "सबके घट में हरी विराजे ज्यो गिरिसुत में ज्योति" प्रत्येक कण-कण में ज्योति और प्रकाश के समान ही प्रत्येक प्राणी में हरि विराजमान हैं। अब प्रश्न है उनके अन्वेषण का ? कैसे कहाँ खोजा जाय ? शरीर के किस स्थान में उसकी उपलब्धि किस साधना विशेष में होती है, मस्तिष्क के ब्रह्मरन्ध्र में चैतन्य का विशिष्ट प्रकाश विद्यमान रहता है। इससे अनुरञ्जित प्राणशक्ति अपने प्रवाह से सहस्रों नाडियों के साथ-साथ सम्पूर्ण शरीर को सचेतन कर देता है। विद्युत् शक्ति-प्रवाह की प्रधान धारा (Main current) के समान प्राण शक्ति का प्रधान प्रवाह मेरुदण्ड के मध्य में अवस्थित है। प्राणशक्ति का मूल आधार सुषुम्णा है, सुषुम्णा से ही इडा और पिङ्गला में वह प्रवाहित होती है। प्राण का इन दो नाड़ियों से प्रवाह होने पर सुषुम्णा का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। सुषुम्णा नाडी मेरुदण्ड के मध्य गुह्यदेश से मस्तिष्क तक विद्यमान है। इडा मूलाधार में स्थित सुषुम्णा के मुख के वामभाग में और पिङ्गला दक्षिण भाग में कुछ उठकर दोनों भ्रुवों के मध्य आज्ञाचक्र में सुषुम्णा से मिल जाती है। इन्हीं दो नाडियों के माध्यम से ज्ञान का प्राण प्रवाह के साथ सम्पूर्ण शरीर में प्रवाह होता है। अहं के साथ शरीर का तादात्म्य मन की वृत्ति का बाह्य प्रवाह एवं संसार लीला के अभिनय की प्रवहमान अवस्था में ही होता है, प्राण-प्रवाह के सुषुम्णा की ओर अग्रसर होने पर दिव्य ज्ञान लौट आता है। प्राण को मेरुदण्ड के मध्य सुषुम्णा में प्रवेश के लिए योगिगण सचेष्ट रहते हैं, यही योगाभ्यास है। इडा और पिङ्गला में गर्भस्थ शिशु का प्राण-प्रवाहित नहीं होता सुषुम्णा उन्मुक्त रहती है। किन्तु भूमि के साथ सम्बन्ध होते ही प्राण धारा इडा और पिङ्गला नाड़ियों में पड़ती है, इन दो नाड़ियों में प्राण वायु का सञ्चरण होते ही सुषुम्णा अवरुद्ध हो जाती है। योगी रामप्रसाद ने इसी की सूचना इन शब्दों में दी है:—

गर्भे जखन जोगी तखन, भूमे पड़े खेलाम माटी।

गर्भ में योगी था किन्तु पृथ्वी पर आते ही दुःखी हो गया। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और मुद्रा आदि में अभ्यास के द्वारा योगज शक्ति से मनुष्य सुषुम्णा में प्राणशक्ति के सञ्चार की चेष्टा करता है, प्राण के साथ मन योग के द्वारा सुषुम्णा का भेदन कर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है। प्राण की चञ्चलता का क्रमिक विनाश होकर स्थिरता की प्राप्ति सुषुम्णा में प्रवेश करने से ही होने लगती है और जब वह सुषुम्णा का भेदनकर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है तब वह अवरुद्ध हो जाता है किन्तु यह अवरोध श्वास-प्रश्वास के

बाह्य अवरोध के समान दुःखावह नहीं होता है। क्योंकि यह उसकी सहज आयास शून्य अवरोध की स्थिति है, स्वरूप स्थिति या आत्माराम की अवस्था होने से वह भूमा सुख अर्थात् परमानन्द सन्दोह से सन्तृप्त रहता है। यह सत्य है कि स्वतः प्रकाश स्वरूप आज्ञाचक्र में ही आविर्भूत हो जाता है, इस चित् की ज्योति के स्फुरण होने से प्राण के सहज रूप की स्थिरता आ जाती है। प्राण की स्थिरता के साथ ही मन विक्षेप शून्य हो जाता है—यह मन की निर्मलावस्था है। इसमें रजो गुण की प्रशान्ति और सत्त्वगुण का उद्रेक रहता है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनां सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

मधुसूदन की अद्वैत भावनात्मक रस स्वरूपता जो मन की भगवदाकारता सम्पत्ति कही गई है, योग की दृष्टि में वह चिदाकारता है, मन की स्थिरता है। अनन्तर योगी प्रत्याहार के द्वारा मन को वशीभूत करने की दिशा में प्रयत्नशील होता है और रजोगुण से अभिभूत हो जाने से ब्रह्मसायुज्य-सुख का अनुभव करता है। यही योग का परम फल है। योगी की उत्तम समाधि सुख स्थिरता या शब्दान्त ब्रह्मभाव की प्राप्ति है। भागवत वर्णित योगेश्वर भगवान् का यही अवरुद्धरूप है। यह वही अवस्था है जिसमें देह के कालकृत परिणाम के अवरोध होने से जन्म मृत्यु का खेल प्रशान्त हो जाता है। ईश्वर सायुज्य अर्थात् अणिमा आदि अष्टसिद्धियों के साथ ऐश्वर्य सम्पत्ति है।

शरीरस्थ चन्द्र और उनका स्थानः—

परवैराग्य पद की प्राप्ति से मानव निर्विकल्प समाधि सम्पत्ति से अचल हो जाता है, यह अन्य शब्दों में कैवल्यावस्था है। शरीर में छ विशिष्ट केन्द्र के रूप में पद्माकार अवस्थित है। सुषुम्णा नाड़ी इन केन्द्र भूत स्थानों का भेदन कर आगे बढ़ती है। यही चक्र या पद्म है। सम्पूर्ण शरीर बाह्यवस्तु के अन्तःस्थ तत्त्व से परिपूर्ण है। अन्तःस्थ वस्तु का ही बाह्य संघटन है। जैसा प्राणशक्ति का अन्तःस्थ में सञ्चरण होगा वैसा ही इस ब्रह्माण्डकोश में वृत्ति का सञ्चरण होता है। अतः शरीरस्थ तत्त्वों के द्वारा प्राण और मन को एकाग्र करने से समत्व फल को देनेवाले योग की सफलता होती है। गुह्य द्वार के ऊपर चार दलों से युक्त पद्म है—वही मूलाधार है, यहीं से प्राण वायु का सञ्चरण करना है। लिङ्ग मूल के पीछे मेरुदण्ड में षड्दल युक्त एक पद्म है—यही स्वाधिष्ठान चक्र या पद्म है। नाभि के पीछे मेरुदण्ड में ही दशदलों से विशिष्ट चक्र या पद्म है—यह मणिपूर है। मेरुदण्ड में स्थित हृदय के पीछे द्वादशदल चक्र या पद्म है—यह अनाहत चक्र है। कण्ठमूल के पीछे मेरुदण्ड में षोडश

दलों से युक्त चक्र या पद्म है—यह विशुद्ध पद्म है। दोनों भौओं के मध्य में दो दलों वाला पद्म है—यह आज्ञाचक्र या पद्म है। इसके ऊपर मस्तिष्क देश में हजार दलों से युक्त कमल है—यह परब्रह्म या सद्गुरु अर्थात् जिसे योगशास्त्र में काल से परिच्छिन्न न होने के कारण सभी का गुरु माना गया है। "पूर्वेषामपि गुरुः, कालेनानवच्छेदात्" (यो. सू. १।२६)। सुषुम्णा नाड़ी को इन छः पद्मों का भेदन कर सहस्रार पद्म में जाना है।

सूक्ष्मतम नाड़ी जो सुषुम्णा में ही स्थित है—वह ब्रह्म नाड़ी है, इसी ब्रह्म नाड़ी में प्राण की स्थिति जीव के अज्ञान की नाशिका है। इसी स्थिति को गुरु स्थानीय प्राण की स्थिति अर्थात गुरु स्थान में प्राण के सञ्चरण का प्रतीक है—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

इसी को परम्परा प्राप्त पद्य से कहा गया है। सुषुम्णा के अन्तः स्थित इस ब्रह्म नाडी को भी योग में सुषुम्णा ही कहा जाता है। इस पूर्वोक्त ब्रह्म नाडी के अन्तर्गत चित्रा और वज्रा नाडियाँ है। स्वाधिष्ठान से वज्रा और मणिपूर से चित्रा उठती है। योगजशक्ति से इनका स्पन्दन सम्भव है। यह कहा गया है कि सप्त लोक की जो बाह्य स्थित वर्णित है, वे अन्तः सप्त पद्म ही है। और गायत्री की सप्त व्याहृतियाँ जो शब्दात्मिका हैं, वे भी उच्चारण क्रम में जप के द्वारा नाद के द्वारा प्राण वायु में स्पन्दन करती हैं। अतः अन्तःस्थ सप्त चक्रों के समान बाह्य सप्त लोकों में इनका प्रसार है। योग क्रियाओं के द्वारा प्रदर्शित सप्त स्थानों में प्राण को आहरण कर ऊर्ध्व दिशा में अवस्थित करने पर योग की दृष्टि से असम्प्रज्ञात या ब्राह्मी स्थिति होती है। यही वह अन्तःस्थ स्थान है जो विष्णु का परम पद है, 'तद्विष्णो परमं पदम्' के द्वारा इसी चक्र का निर्देश किया गया है।

वेद में इस स्थान के लिए व्योमन् शब्द का प्रयोग किया गया है। आकाश की दो संज्ञा है दिव् और व्योमन्। प्रथम में द्योतना या दीप्ति का सङ्केत है और द्वितीय शब्द में शुद्धता अण्डता और उच्चता का सङ्केत है। अखण्डनार्थक अदिति का आध्यात्मिक स्थान आकाश द्यौ ही है। वि + ओमन् अव् धातु का उन्नीस अर्थ कहा गया है, इनमें प्रसाद, परिचरण अर्थात् आनन्द, स्पन्दन एवं संवरण इन तीन अर्थों को लेकर इस धातु से सिद्ध व्योमन् शब्द का प्रयोग मिलता है। व्योमन् निपातन से सिद्ध है। व्येञ् संवरणे से निष्पन्न ॐ के साथ इसका सम्पर्क सुस्पष्ट है। यही कारण है महामहोपाध्याय डॉ०बागची महोदय ने व्योम और ॐ दोनों की निष्पत्ति अव से मानी है। ॐ को गौरी या एकपदी वाक् माना है जो परम व्योमन् में सहस्राक्षर है। इसी प्रकार आधिदैवत अध्यात्म दोनों दृष्टि से वाक् या ॐ उसका अनवरत परिस्पन्द है "यावद् ब्रह्म तिष्ठेत् तावती वाक्" (ऋ. १०।११४।८) यही कारण है कि उस अव्यक्त अव्याकृत अवस्था को न सत्, न असत् कुछ भी नहीं कहा जाता

है "नासीद् रजो नो व्योमा परो यत्" (ऋ० १०।१२९।१) जो भी सत् है उसकी रज में स्थिति है, उससे परे व्योम या असत् है किन्तु आदि अव्याकृत को सत् या असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि स्थिर तत्त्व में रज का प्रवेश नहीं है, अन्यथा स्वरूप में अवस्थिति नहीं रहेगी। इसी लिए कहा गया है—'ज्येष्ठासो न पर्वतासो व्योमनि' (ऋ० ५।८७।९) सप्त चक्र के प्रसङ्ग में 'त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुहे सत्यम् आशिरः पूर्व्ये व्योमनि' (९।८।१) सात धेनु ऊर्ध्वस्रोता प्राण का सात स्थान है। 'भगो न मेने परमे व्योमन् अधारयद् रोदसी सुदंसाः' (ऋ० ६।८।७) रोदसी का द्यौ एवं पृथिवी (ऋ० १।१८४।४१) है, भग आदित्य है, पुरुषमेध योग यज्ञ में यह अजन्मा नारायण है (१३।६।१)। इनकी दो पत्नियाँ हैं पौराणिक दृष्टि से श्री और लक्ष्मी और अध्यात्मदृष्टि से चित् और आनन्द तथा तन्त्र की दृष्टि से नील सरस्वती और तारा, नारायण का नाभि अप् में वास, इसकी तुलना करे—सप्तशती के मध्यम चरित्र में देवी के आविर्भाव से। 'अप्सरा जारम् उपसिष्मिया योषा बिभर्ति परमे व्योमन्'(१०।१२३।५)। सूर्य या सोमचित् आनन्द योषा या उषा वाक् या अप् यही सृष्टि का नाभि स्थान है वाक् सहस्राक्षरा अर्थात् सहस्रदल कमल योग की भाषा में है। 'असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन अदितेरुपस्थे' (ऋ० १०।५।६)। अदिति अनन्त चेतना, दक्ष प्रज्ञावीर्य है। अनुलोम और विलोम क्रम में एक से दूसरे का जन्म है। इस प्रकार अध्यात्म दृष्टि से परम व्योम चेतना की उत्तुङ्गतम भूमि है जिसे योग क्रिया में सहस्रार कहा गया है वेद में परम व्योम चेतना का स्फुरण ॐ के साथ सायुज्य वर्णित है। इस प्रकार उस विष्णु के व्यापक परम व्योम पद को प्राप्तकर जीवन कृतकृत्य होता है। योग में स्पष्ट लिखा है कि अविद्या संस्कार द्वारा प्रकाशशक्ति आवृत है प्राणायाम के द्वारा प्रकाशावरण दूर होता है। आवरण क्षीण होने से सर्वथा समता की भावना परिव्याप्त हो जाती है। प्राण स्थिर हो जाता है। प्राण की अन्तः शक्ति का विकास जगदाकार व परिणति है। इसी को तन्त्र की दृष्टि से शिव शक्ति सामरस्य योग दृष्टि से समत्व भावना कहा है। चराचर विश्व के विकास की भूमि 'लोकोपकारकरणाय सदार्द्रचित्ता' की स्थिति या आत्मानुग्रह के अभाव में लोकानुग्रह मूलक प्रवृत्ति का आरम्भ है। जिसे दूसरे शब्दों में निवृत्तिमार्ग कहा गया है।

पूर्व विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि दीप्ति का अन्तः स्वरूप ही संवित् है। शैवदृष्टि के परिप्रेक्ष्य में योगविशारद के सिद्धान्तानुसार जीव और आत्मा का ऐक्य संवित् का साधन ही योग है। जीव और आत्मा के अभेद से उत्पन्न ज्ञान ही योग है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए शिवसूत्रवृत्ति में कहा गया है कि आत्मा के विमर्श से सात्त्विक ज्ञान उत्पन्न होता है शिवस्वरूप को प्राप्त कर इन्द्रियों के साथ अन्तःकरण का लय होता है। आनन्द भैरव में भी कहा है कि प्राणादि-

भावना एवं उनके दृश्य सम्पत्तियों का परित्याग कर चित्तका अपने आत्मभाव अर्थात् स्वरूप से शिवरूप में सायुज्य ही योग है।

योग भूमि में छ शत्रुओं का नाश :—

स्वच्छन्द भैरव में भी इसी का समर्थन मिलता है प्राण, मन और अन्तःकरण के विनाश से समूल माया की निवृत्ति होने से शिवानन्द स्फुरण ही योग है। उत्तराम्नाय के अनुसार शिव और शक्ति का अभेदात्मक ज्ञान ही योग है। शक्ति को संवित्स्वरूप तथा परमानन्द रूपिणी माना है। सभी विश्लेषणों से आत्म-स्वरूप ज्ञान से सर्वत्र ज्ञान की भूमि पर समता का सञ्चरण ही योग है।[1]

अन्य दार्शनिक दृष्टि में भी आत्मस्वरूप के चिन्तन एवं संवित्प्रकाश से सर्व-संविद्रूपता के स्फुरण से स्त्री भोगाभिलाषा स्वरूप काम, प्राणियों के मारने की इच्छास्वरूप हिंसा, धनादि की तृष्णा रूप लाभ, तत्वाज्ञान रूप मोह, मैं सुखी हूँ, मैं धनिक हूँ इत्यादि गर्व स्वरूप मद, अन्य व्यक्तियों के कल्याण के प्रति द्वेष रूप मत्सर—ये दुःखप्रद होने से इन छ शत्रुओं का नाश हो जाता है। क्योंकि योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, इन आठ योग के साधनों से क्रमशः मैं किसी की हत्या न करूँ इस अभ्यास की प्रवणतारूप अहिंसा, असत्य नहीं कहूँ इस अभ्यास की प्रवणता चित्तता रूप सत्य, चोरी के व्यवहार से निवृत्ति रूप अस्तेय, स्त्री संभोगरूप इच्छा की निवृत्ति स्वरूप ब्रह्मचर्य, प्राणियों के प्रति क्रूर बुद्धि की निवृत्ति स्वरूप कृपा, चित्त की कुटिलता निवृत्तिरूप ऋजुता, अभिभावक के प्रति अक्रोध चित्तता रूप क्षमा, अभीष्ट वस्तु के अप्राप्ति से जो चिन्ता उसका अभावरूप धृति, क्रमशः भोजन को कम करने से शरीर धारण के लिए अनिवार्य रूप से अपेक्षित भोजनस्वरूप-मिताहार, चित्त की निर्मलता के लिए पूर्व कथित शौचशीलता रूप शौचरूप यम है इनमें धृति से सर्वत्र अनुषङ्ग का अभाव, अहिंसा और ब्रह्मचर्य से काम जय, कृपा और क्षमा से क्रोधजय, अस्तेय सत्य और ऋजुता से लोभ जय, मिताहार और शौच से मोह जय,' क्षमा और ऋजुता से मदजय, अहिंसा, कृपा, ऋजुता और क्षमा से मत्सर का जय होता है।

इस विश्लेषण से यह सिद्ध है कि सभी प्राणियों को वाणी, मन और शरीर से क्लेश न देना ही अहिंसा है। जिस रूप में देखा, अनुमित, सुना है उसको उसी रूप में कथन एवं चिन्तन, किन्तु 'वह वाक्य वाधक, भ्रान्त, अर्थ शून्य न हो। किन्तु 'इदं वाक्य' को सभी प्राणियों के लिए उपघातक न हो कर उपकार के लिए प्रयुक्त होने पर ही सत्य होगा अर्थात् विचार पूर्वक सर्वभूतहित के लिए कहना सत्य वाक्य बोलना अर्थात् सत्य है।[2]

---

१. शारदाति० पदार्थादर्श–पृ० ५३८।

२. व्यासभाष्य–पृ० २।३०

दूसरे की तृणादि के समान तुच्छ वस्तुओं का भी ग्रहण न करना अस्तेय है। कर्म, मन और वाणी से सभी अवस्थाओं में स्त्री की सङ्गति का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है। किसी के दुःख को देखकर अपना समझ कर उसको हटाने की चिन्ता करना ही दया है। मन, वाणी और क्रिया से सभी व्यवहारों में सभी के साथ कुटिलता रहित होना ही आर्जव है। सभी रूपसे सदा सभी के साथ अर्थात् अपने साथ अपकार करने वालों के प्रति बन्धु के समान सम्यक् आचरण करना ही क्षमा है। ज्ञात विषयों में इच्छा प्रयत्न राहित्य लाभवान् रहना धृति है। भोज्य पदार्थ का स्वच्छ चित्त पूर्वक चतुर्थांश हित मेध्य भोजन ही मिताहार है। रोमकूप नवरन्ध्रों के द्वारा निर्गत मल का क्षालन ही शौच है।[1] मिट्टी और जल से बाह्य शुद्धि होती है, अन्दर भूत की शुद्धि के लिए पूर्वोक्त शौच की आवश्यकता है।

योग और दश नियम :—

इसी प्रकार शुद्धि के लिए तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, देवपूजन, सिद्धान्त श्रवण, ह्री, मनन, जप और हवन इन दश नियमों की आवश्यकता है।[2]

शास्त्र के द्वारा विहित कठोरव्रत का आचरण तपस्या है। अनेक विषयों में उत्तर की इच्छा न रखना सन्तोष है। परलोक है यह मानने वाला आस्तिक है और परलोक की प्राप्ति के अनुकूल धर्म आदि का आचरण आस्तिक्य है। अपनी शक्ति के अनुसार देवता, पितर और मनुष्यों के उद्देश्य से देना दान है। यथाशक्ति सन्तोषपूर्वक मोक्ष के साधन में प्रवृत्त व्यक्ति के द्वारा विघ्न को हटाने के लिए आराधना देव पूजन है। वेद में प्रदर्शित उपायों की दृष्टि से उपदेश प्रद शास्त्रों का श्रवण सिद्धान्त है। कुत्सित आचार से स्वयं उद्वेग होना ही है क्योंकि चित्त की मलिनता से ज्ञान का उदय नहीं होता है। वेदादि के द्वारा सुने गये विषयों का पुनः पुनः युक्तियों से अनुशीलन मनन है। चित्त की शुद्धि से ईश्वर की पुनःपुनः भावना या अनुचिन्तन जप है। अग्निहोत्र आदि शास्त्र विहित हवन होम है। मन्त्र आदि के जप करने पर दशांश हवन होम है। हवन के न करने पर प्रत्यवाय से चित्त की मलिनता के कारण चित्त की शुद्धि न होने से ज्ञान का उदय नहीं होगा।[2] ये नियम हैं, अतः इनका आचरण न करने पर प्रत्यवाय होता है, अवश्य कर्तव्य होने के कारण इनका आचरण आवश्यक है।

---

१. शा. ति. प० पृ० ५३९।

२. तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम्॥
नाजपात्सिद्धयते मन्त्रो नाहुतश्च फलप्रदः।
अनर्चितो 'हरेत्' कामान् तस्मात्त्रितयमाचरेत्॥

योग और प्राणायाम आदि—

इसी प्रकार योगी के लिए आसन भी आवश्यक है। आसन के द्वारा रोग का विनाश होता है, प्राणायाम के द्वारा पातक का नाश होता है, प्रत्याहार के द्वारा मानस विकार का विनाश होता है, धारणाओं से मन में धैर्य्य आता है, ज्ञान से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है और सभी शुभाशुभ कर्मों का परित्यागपूर्वक समाधि से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1] अनेक आसनों का शास्त्र में रोगों की निवृत्ति के लिए शास्त्र में निर्दिष्ट किया है, किन्तु योग में जप एवं समाधि के लिए प्रसिद्ध पाँच आसनों का अनुष्ठान आवश्यक है। वे प्रसिद्ध पाँच आसन निम्नलिखित है—पद्मासन, स्वस्तिकासन, वज्रासन, भद्रासन और वीरासन।

प्राणायाम :—बाहर सोलह मात्रा से वायु का इडा के द्वारा अन्दर आकर्षण है, अथवा बारह या सोलह बार प्राणायाम का आचरण करें। चौसठ मात्रा से पूरित वायु को धारण करे, बत्तीस मात्रा से सुषुम्णा नाडी के मध्य में धीरे-धीरे अवस्थित करे—यह कुम्भक है। पिङ्गला नाडी से पूरित वायु को छोड़ दे—यह रेचक है।

मात्रा :—जितने समय से अपना हाथ जांघ के नीचे आता है वह एक श्वास के समान एक मात्रा है। कतिपय आचार्यों ने जानु (जङ्घा के मध्य भाग) को तीन बार हाँथ से स्पर्श कर स्फोटन छोटी मात्रा है। अन्य लोगों की दृष्टि में अङ्गुलि के आठ बार स्फोट बजाना के समान मात्रा है। वायवीय संहिता के अनुसार दोनों जानु भाग की न जल्दी और न देरी से परिक्रमा कर अङ्गुलि का स्फोटन मात्रा है।[2]

---

१. आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगो प्रत्याहारेण सर्वदा॥
धारणाभिर्मनो धैर्य्यं ज्ञानादैश्वर्य्यमुत्तमम्।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्तकर्मशुभाशुभः॥
(व० सं०, शा० ति० पृ० ५४०)

२. कालेन यावता स्वीयो हस्तः स्वं जानुमण्डलम्।
पर्येति मात्रा सा तुल्या स्वयैकश्वासमात्रया॥
अथवा
स्वजानुमण्डलं पूर्वं त्रिःपरामृश्य पाणिना।
प्रपद्य छोटिकामेकां मात्रा सा स्याल्लघीयसी॥
अथवा
जानुं प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम्।
अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात् सा मात्रेति प्रकीर्त्तिता॥
(शा० ति० पदा० पृ० ४४१)

पूर्वोक्त प्राणायाम दो प्रकार का है। १ सगर्भ, २ अगर्भ। जप और ध्यान के साथ किया गया प्राणायाम सगर्भ है। यह सगर्भ प्राणायाम अतिशय फल देने वाला है एवं अगर्भ प्राणायाम सभी पापों का नाशक है। प्राणायाम उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन प्रकार का है। प्राणायाम का अभ्यास करने पर पसीना होना अधम प्राणायाम हैं। कम्पन से युक्त प्राणायाम मध्यम है। और भूमित्याग गुण की प्राप्ति उत्तम प्राणायाम है।

प्राणायामः—मन की स्थिति के लिए अभ्यन्तर वायु को नासिका रन्ध्रों से प्रयत्न-विशेषपूर्वक यमन रूप प्रच्छर्दन एवं प्राण का संयम रूप विधारण से मन में स्थिरता आती है। हठयोग आदि में निर्दिष्ट प्राणायाम से योगसूत्र में निर्दिष्ट प्राणायाम में अन्तर है। आसन जप से स्थिरता लाभ के बाद बाह्य वायु का आरम्भ में रेचन अन्दर की वायु का निःसारण इन दोनों गतियों का विच्छेद प्राणायाम है। आसन जय से शारीरिक स्थिरता आती है एवं मानसिक वृत्ति-शून्य के समान भावना का अनुभव होने पर प्राणायाम का अभ्यास विहित है। अस्थिर चित्त का प्राणायाम योगाङ्ग नहीं है।

"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छिन्नः प्राणायामः। (यो. सू. २।४९)

प्राणायाम के लिए उपयुक्त स्थान, काल, मिताहार एवं नाडी-शुद्धि आवश्यक है[1]।

स्थानः—निरुपद्रव एवं प्राचीर वेष्टित कुटी प्राणायाम का स्थान है।

कालः—घेरण्ड संहिता के अनुसार वसन्त और शरत् प्राणायाम के आरम्भ का उचित काल है। इस मास में प्राणायाम का आरम्भ करना श्रेयस्कर है[2]।

अस्सी मात्रा पर्यन्त कुम्भक करना चाहिए या अस्सीवार बीजमन्त्र का जाप करता हुआ कुम्भक का अभ्यास करे।

अस्सीवार कुम्भक करने पर बीसवार पूरक एवं चालीसवार रेचक करना चाहिए, प्रातः मध्याह्न एवं सायंकाल एवं आधी रातमें प्राणायाम का विधान है। मिताहार, नाडीशुद्धि प्राणायाम के लिए आवश्यक है। मलयुक्त समस्त नाडी-चक्र की शुद्धि होने पर ही योगी प्राण का संयम करे।

समनु और निर्मनु के भेद से नाडीशुद्धि दो प्रकार की है। धौति आदि षट्कर्म से नाडीशुद्धि निर्मनु है, बीजमन्त्रजप के साथ प्राण संयम के द्वारा नाडीशुद्धि को समनु कहते हैं।

---

१. घे० सं० ५।२

२. वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत्।
तथा रोगी भवेत् सिद्धो रोगान्मुक्तो भवेद् ध्रुवम्॥ (घे० सं० ५।९)

मूलाधार में भुजङ्गाकार कुण्डलिनी अधिष्ठित हैं; इस शिखा को तेजोमय ब्रह्मरूप में ध्यान करे यही तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान है। मन से ऊपर भ्रू के मध्य में प्रणवात्मक तेज है, उस ज्वालावली प्रयुक्त तेज का ध्यान तेजो ध्यान है[१]।

प्रत्याहारः—विषयों के प्रति विना रोक टोक इन्द्रियों की प्रवृत्तियों का बलपूर्वक रोकना प्रत्याहार है।

अर्थात्—अपने अपने विषय में इन्द्रियों का असंयोग होने से चित्त की द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थिति प्रत्याहार है अर्थात् प्रत्याहार शब्द का अर्थ घूमाना है, चञ्चल अस्थिर मन आदि जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ से लौटाकर आत्माविष्ट करना प्रत्याहार है। वेदान्तसार में, इन्द्रियों को अपने विषय से प्रत्याहरण प्रत्याहार है।

धारणाः—अंगूठा, पैर की गाँठ, जानु, उरः, सीवनीलिङ्ग, [गुदा लिङ्ग के मध्य में उन्नत रेखा सीवनी है] नाभि, हृदय, कण्ठ, लम्बिका, नासिका, भौओं के मध्य, मस्तक, मूर्धा इन बारह स्थानों में प्राण वायु का धारण धारणा है। वसिष्ठ संहिता में धारणा का पाँच भेद कहा गया है। मन की निश्चलता के लिए धारणा का विधान है।

(१) क्षमा धारणा—हरिताल सुवर्ण के समान सुन्दर श्री सम्पन्न। लक्ष्मी कमलासन से समन्वित चतुष्कोण हृदय में स्थित है और कलाल युक्त है वहाँ पाँच घड़ी तक चित्त समन्वित प्राण को धारण करे सदा स्तम्भ करने वाली यह क्षितिपरक क्षमा नामक धारण कही जाती है।[२]

(२) वारुणी धारणाः—अर्द्ध चन्द्र के समान कुन्द पुष्प के सदृश धवल कण्ठ अर्थात् ग्रीवा में तत्त्व समन्वित अमृत वकार बीजयुक्त सदा विष्णु के साथ युक्त स्थित है वहाँ चित्तयुक्त प्राण को पाँच घड़ी तक लाकर धारण करे दुःसह काल कूट के समान तरल यह वारुणी धारणा कही जाती है।[३]

---

१. भ्रुवोर्मध्ये मन ऊर्ध्वे यत्तेजः प्रणवात्मकम्।
ध्यायेत् ज्वालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदुच्यते ॥ (घे० सं० ६।१७)

२. प्राप्तश्रीहरितालहेमरुचिरा तत्त्वकलालान्वितं
संयुक्ता कमलासनेन च चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिपरा ख्याता क्षमा धारणा ॥

३. अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठे च तत्त्वान्वितं
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकूटतरला स्याद्वारुणी धारणा ॥
(शा० ति० अ० पृ० ४१)

(३) वैश्वानरी धारणाः—तत्त्वस्थित इन्द्रगोप के समान शिव के अनेक तेजोमय प्रवाल के समान सुन्दर त्रिकोण अनल रुद्र से समन्वित है वहाँ प्राण को पाँच घड़ी तक लाकर चित्तान्वित धारण करे वह्नि के समान शरीर को धारण करती हुई यह वैश्वानरी धारणा कही जाती है।[1]

(४) वायु धारणाः—जगत्प्रपञ्च सहित जो मूल देखा गया है, भौंओं के मध्य में उसके समान सत्त्वमय यकार सहित जहाँ ईश्वर देवता है, पाँच घड़ी तक वहाँ चित्तसमन्वित प्राण को धारण करे, यह वायु की धारणा है, यह सदा नियत रूप से आकाश में गमन करती है[2]।

(५) नभोधारणाः—सुविशुद्ध जल सदृश आकाश जो ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है जो उसके नाथ सदा शिव से सहित हकार अक्षर से युक्त है, वहाँ प्राण को लाकर चित्त के साथ समन्वित धारण करे यह मोक्ष कपाट को भेदन में पटु नभोधारणा कही जाती है।[3]

कर्मों की साधिकायें ये सभी पाँच धारणायें दुर्लभ हैं उनके जानने से योगी सभी पापों से मुक्त होता है।[4]

योगः—

पातञ्जल दर्शन में चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है। यह योग सर्व श्रेष्ठ मानस बल है। चित्त का परिणाम वृत्ति है। और इस वृत्ति का निरोध समाधि या योग है, यह कहा गया है कि सांख्य के समान ज्ञान नहीं है और योग के समान बल नहीं है, वृत्ति का निरोध एक अभीष्ट विषय में चित्त को स्थिर करना है। अर्थात्

---

१. तत्त्वस्थं शिवमिन्द्रगोपसदृशं तत्र त्रिकोणेऽनलं
तेजोऽनेकमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण तत्संगतम्।
प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निसमं वपुर्विदधती वैश्वनरी धारणा॥

२. यन्मूलं च जगत्प्रपञ्चसहितं दृष्टम्भ्रुवोरन्तरे
तद्वत्सत्त्वमयं यकारसहित यन्त्रेश्वरो देवता।
प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति नियतं वायोः सदा धारणा॥

३. आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रे स्थितं
तन्नाथेन सदा शिवेन सहितं युक्तं हकाराक्षरैः।
प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा॥

४. कर्मणां साधकाः सर्वा धारणाः पञ्च दुर्लभाः।
तासां विज्ञानतो योगी सर्वपापैः प्रमुच्यते।

अभ्यास के द्वारा यथेच्छ अभीष्ट ध्येय में चित्त की निश्चल स्थिति करना योग है। स्थैर्य और ध्येय इन दो विषयों के अनुसार योग का अनेक भेद है। चित्त में स्थैर्य्य की उत्पत्ति से मनोवृत्ति चित्त में स्थिर रहती है। वृत्ति की स्थिरता की वृद्धि मानसिक बल वृद्धि सम्पत्ति है। स्थिरता की चरम सीमा समाधि है। और यह शाश्वती शान्ति का साधन है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए श्रवण मनन और निदिध्यासन अर्थात् समाधि को चरम कारण माना है। योगी अपने कर्म समूह को दग्ध कर समाधि सिद्ध होने पर इसी जन्म में मुक्त होता है।[१] आत्मदर्शन समाधि लभ्य परम धर्म है। ईश्वर के प्रणिधान से भी चित्त की स्थिरता होती है। दान, संयम आदि के द्वारा परम्परा क्रम में चित्त स्थिर होता है। चित्त के रूप में परिणत सत्त्व गुण ही विशुद्ध ज्ञान वृत्ति है, जिसे चित्त सत्त्व भी कहा जाता है। तमो गुण और रजो गुण से चित्त के अनुविद्ध होने पर चाञ्चल्य और आवरण के कारण ध्यान की प्रवणता नहीं होती है।

योग के विना कुण्डलिनी का जागरण नहीं होता है। गौतमीयतन्त्र में—संसार से उद्धार होने के साधन को योग कहा गया है, इस दृष्टि से जीव और आत्मा का ऐक्य ही योग है।[२] शारदातिलक टीका में राघवभट्ट ने भी वेदान्तानुसार जीव और आत्मा के ऐक्य को ही योग माना है। (ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः[३]) कुलार्णवतन्त्र के अनुसार भी पूर्वोक्त ही योग माना है।

न पद्मासनतो योगो न नासाग्रनिरीक्षणम्।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥ (कु० त० ३०।९)

महानिर्वाणतन्त्र के अनुसार भी योग की यही परिभाषा स्वीकृत है। योगो जीवात्मनोरैक्यं पूजनं सेवकेशयोः। (म० त० १४।१२३) महातन्त्र के अनुसार शिवशक्ति का सामरस्य योग है।

प्रपञ्चसार के अनुसार अपने में हाथ पैर मुख आदि से रहित अनन्य आत्म स्वरूप का अनवरत दर्शन ही तात्त्विक दृष्टि से योग है।[४] पातञ्जल योगदर्शन की दृष्टि से प्रदर्शित चित्तवृत्ति-निरोध रूप योग के साथ तन्त्र एवं गीतोक्त योग का

---

१. विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि।
प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयो चिरात्। (वि० पु० ७ अंश)

२. संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते। (गौ० त० २२।८)
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥ (गौ० त० २२।९)

३. शा० ति० २५

४. करपादमुखादिविहीनं मनोरदृश्यमनन्यगमात्मपदम्।
यमिहात्मनि पश्यति तत्त्वविदस्तमिमं किल योगमिति ब्रुवते॥
(आ० पृ० ५४३)

कोई विरोध नहीं है। क्योंकि आत्मस्वरूप में चित्तवृत्ति की स्थिरता ही योग है, यह अर्थ "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् (यो. सू. १।३) इस सूत्र में सुस्पष्ट है। गीता के द्वितीय अध्याय के पद्य के द्वारा स्पष्ट कहा गया है कि समाधि में स्थिर बुद्धि का अवस्थान ही योग है। "समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यति।"

योग का भेदः—सभी साधनायें साधारण रूप से योग के नाम से परिचित हैं। ज्ञान हो या कर्म हो या भक्ति सभी के साथ योग शब्द का संयोग कर ज्ञान-योग, कर्मयोग, भक्तियोग, हठयोग, नादयोग, लययोग, जपयोग आदि। इसी प्रकार अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग के भेद से भी योग का दो भेद माना गया है। बहिरङ्ग योग-साधना के बल से ज्ञान का उदय होता है। किन्तु इस ज्ञान के होने पर भी ज्ञान और ज्ञेय का भेद नष्ट नहीं होता है। अन्तरङ्गयोगनिर्विकल्पक की साधना करने पर जिसे महाज्ञान कहा जाता है, इस अवस्था में ज्ञान और ज्ञेय का पृथक् रूप से ज्ञान नहीं होता है। सत्य वस्तु का ज्ञान जो बहिरङ्ग योग है, उसके फलस्वरूप सत्य का भान अवश्य होता है, किन्तु अन्तरङ्ग योग के बिना द्रष्टा के सत्यस्वरूप में अवस्थिति की प्राप्ति नहीं होती है[1]। दत्तात्रेय संहिता के अनुसार राजयोग सर्वश्रेष्ठ माना है।

"योगो हि बहुधा ब्रह्मन् तत्सर्वं कथयामि ते।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठयोगस्तथैव च॥
राजयोगश्च सर्वेषां योगानामुत्तमः स्मृतः[2]।

योगशिखोपनिषद् के अनुसार महायोग के रूप में भिन्न-भिन्न रूप में उपलब्ध सभी योग एक ही है। मन्त्रयोग लययोग, हठयोग एवं राजयोग ये अवस्था भेद मात्र हैं।

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते[3]॥

लययोग—योगशिखोपनिषद् के अनुसार हठयोग से सभी दोषों से उत्पन्न जडता का नाश हो जाता है, क्योंकि क्षेत्र और परमात्मा का ऐक्य = अभेद होता है, फलतः चित्त की विलीनता भी सम्पन्न होती है, यही लययोग है।

लययोग होने पर प्राणवायु स्थिर होता है। योगी को लययोग से परम पद की उपलब्धि के साथ स्वरूपानन्द का लाभ होता है[4]। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार वासना का पुनः उत्थान न होने के लिए विषय विस्मृति लय है। सभी

---

१. कल्याण योगाङ्क पृ० ३२५
२. प्रा० तो० का० ५। प० उ० पृ० ४३६
३. यो० शि० १।१२९
४. यो० शि० उ० पृ० ३६

सङ्कल्प के विनष्ट होने पर जब अशेष चेष्टायें निःशेष हो जाती है तब लययोग उत्पन्न होता है। वाणी की अविषय अपने अनुभव मात्र से गम्य यह अवस्था है।

"उच्छिन्न-सर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः॥" ह० प्र० ४।३२

दूसरे शब्द से श्वास-प्रश्वास निरुद्ध हो जाता है, इन्द्रिय का विषय ग्रहण विध्वस्त हो जाता है एवं मन निश्चेष्ट हो जाता है; तब लययोग के उत्कर्ष की अवस्था आती है। यह लययोग अनेक प्रकार के हैं। वस्तुतः चित्तलय ही लययोग है। चलते, उठते, बैठते, निद्रा, आहार सभी अवस्थाओं में निष्कल ईश्वर का ध्यान करना—यही लययोग है। बाह्य एवं आभ्यन्तर जितने भी कर्म सभी की लय साधना लययोग है। आदिनाथ ने सवा करोड लययोग के भेद को कहते हुए नादानुसन्धान को मुख्यतम माना है। शिव संहिता में तो स्पष्ट कहा कि खेचरी के समान मुद्रा नहीं है और नाद के समान कोई लय नहीं है। अतः नादानुसन्धान=आत्मज्योति का दर्शन जिसे पातञ्जल दर्शन के अनुसार स्वरूपावस्थान अर्थात् अन्य दृष्टि से कुण्डलिनी-उत्थापन कहा है श्रेष्ठ लययोग है।

मन्त्र योग :—

हकार के द्वारा श्वास बाहर आता है और सकार के द्वारा भीतर प्रवेश करता है, इस प्रकार सभी लोग हंसः मन्त्र का जप करते है गुरु की कृपा से सुषुम्णा में विपरीत जप होता है अर्थात् सोऽहं हो जाता है—यही मन्त्रयोग है।

मन्त्र जप के लिए जो मनोलय हैं—वही मन्त्रयोग है, पातञ्जल के अनुसार तज्जपस्तदर्थभावनम् (पा० सू० १।२८) के द्वारा इसी का निर्देश किया है। इसकी दूसरी संज्ञा महाभाव मानी गई है, इसमें बाह्यव्यवहार विहित है, बाह्यानुष्ठान भी चलता है, वर्णाश्रम धर्म आदि भी चलता है, देव देवी की मूर्ति का प्रतीकात्मक ध्यान भी चलता है, उनके रूपका ध्यान और नाम के जप के द्वारा मन्त्रयोग समाधि होती है।

दत्तात्रेय संहिता में इसको अधम योग कहा है, किन्तु शक्तिसङ्गमतन्त्र में और पातञ्जल दर्शन में इसकी प्रशंसा की गई हैं। मन्त्र योग के अभ्यास से सुखदुःख रहित केवल परब्रह्म परिस्फुट होता है। इसके द्वारा चित्त शुद्ध होता है। कामक्रोध से युक्त परमात्मा का ऐक्य चिन्तन दुःख का कारण होता है, मन कहीं, ध्येय कहीं, तब सुख कहाँ? मानस भावना के द्वारा जीव ध्येय स्वरूप रहता है और भावना के त्याग के साथ ही जीव हो जाता है[1]। कविराजजी की व्याख्या के अनुसार मन्त्र का आश्रयण कर जीवात्मा और परमात्मा का

---

१. श० सं० त० १।२६–३०

सम्मेलन मन्त्रयोग है। शब्दात्मक मन्त्र चेतन हो जाता है और ऊर्ध्वगति क्रम में शब्दातीत परमधाम पर्यन्त गमन करता हैं। वैखरी से मध्यमा होते हुए पश्यन्ती अवस्था तक प्रवेश कराना मन्त्रयोग का उद्देश्य है। पश्यन्ती स्वप्रकाश चिदानन्दमय चिदात्मक-पुरुष की अमर षोडशी कला है। शब्द चैतन्य का फल आत्मा की स्वरूप स्थिति है। मूलाधार से शब्द ऊपर को उठता रहता हैं। मन्त्रयोग से बाह्य विषय से इन्द्रिय अवरुद्ध रहती है, और चेतन शब्द सुनने का अधिकारी होता है। अभिधान जनित शब्द अनाहत नाद में लीन हो जाता है। अक्षर समष्टि मात्र रह जाती है, इसमें भी ईडा और पिङ्गला की गति अवरुद्ध हो प्राण सुपुम्णा में प्रविष्ट होता है और सारस्वतस्रोत का अनुभव करता है और क्रमशः आज्ञाचक्र में जाता है, वहाँ बिन्दु स्थान का भेदन कर सहस्रार महाविन्दु में अवस्थित है—यही तज्जपस्तदर्थ भावन रूप मन्त्र योग है।

हठयोग :—

योगशिखोपनिषद् के अनुसार हकार सूर्य है और ठकार चन्द्र है, सूर्य और चन्द्र का ऐक्य ही हठ योग है। शरीर में आपानवायु चन्द्र है और प्राणवायु सूर्य है। अतः प्राण और आपानवायु का संयोग हठ योग है। किसी किसी के मत में हठात् ज्योतिर्मय होकर अन्तर में शिव स्वरूपता की प्राप्ति करता है, अतः सिद्धि प्रद सिद्ध सेवित यह हठ योग है।

साधन में प्रधान साधन शरीर है, शरीर की स्वस्थता के विना साधना नहीं चल सकती है। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः स्थूल शरीर की साधना का प्रभाव सूक्ष्म शरीर और मन पर होता है। हठयोग-प्रदीपिका के अनुसार सभी तापतप्त मानवों के लिए यह आश्रयगृह स्वरूप है, एवं कूर्म जैसे पृथिवी का आधार है वैसे ही यह सभी योगों का आधार है। इस योग के करने से साधक के शरीर में दुर्बलता, मुख में प्रसन्नता, अनाहत नाद की व्यक्तता, चक्षु की निर्मलता एवं शरीर की स्वस्थता होती है, बिन्दु-जय से अग्नि उद्दीप्त तथा नाड़ी विशुद्ध होती है। इससे सुप्त कुण्डलिनी का जागरण एवं ब्रह्मद्वार मुक्त होता है।

"वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता विन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्" ॥[1]

हठयोग का उपदेश गोरक्षनाथ एवं इनके पूर्ववर्ती मृकण्ड पुत्र मार्कण्डेयादि ने किया है। हठयोग अष्टाङ्ग है, जिसका निर्देश पातञ्जलयोग दर्शन के यम आदि से किया है। गोरक्षनाथ के अनुसार यह षडङ्ग है। इन्हों ने यम और नियम का परित्याग कर अन्य सभी अङ्गों को माना है। घेरण्ड संहिता के अनुसार इसके

---

१. ह० प्र० २।७८

सात अङ्ग है। उसमे प्रत्येक का विभिन्न फल है, षट् कर्मों से शरीर शोधन, आसन से शरीर दृढ़, मुद्रा से शरीर स्थिर, प्रत्याहार से धीरता, प्राणायाम से प्रणिधान होता है और ध्यान से आत्म प्रत्यक्ष और समाधि से निर्लिप्तता और मुक्ति होती है।[1]

राजयोग :—

योगेश्वरोदय में कहा गया है कि आकाश में घूमती हुई वायु जैसे स्वयं आकाश स्वरूप को प्राप्त करती है अर्थात् आकाश में लीन होती है, वैसे ही आकाश में अर्थात् ब्रह्म में मन का लय ही राजयोग है।

यथाकाशे भ्रमन् वायुराकाशं व्रजते स्वयम्।
तथाकाशे मनो लीनं राजयोगक्रियामतम्॥ (योगेश्वरोदय)

योगशिखोपनिषत् के अनुसार शक्ति और शिव का योग ही राजयोग है।

रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः। (योग० उप० १।१३७)

राजयोग द्वैत-भाव-रहित है। 'राजयोगः स्यात् द्विधाभावविवर्जितः' (शि० सं० ५।१७) इस योग में दीप्तिका साक्षात्कार होता है। दीप्ति अर्थ को कहने वाले राजृ (राज्) से यह निष्पन्न है। इसके फल की श्रेष्ठता को ध्यान में रखकर कतिपय आचार्यों ने योगों का राजा यह अर्थ किया है। किन्तु इस अर्थ में 'योगराज' प्रयोग होगा। सर्वथा शिवप्रद होने के कारण ही यह राजयोग है। योगेश्वरोदय के मत में यह पन्द्रह प्रकार का है।

"पञ्चदश प्रकारोऽयं राजयोगः शिवप्रदः।
क्रियायोगः ज्ञानयोगः कर्मयोगो हठस्तया॥
ध्यानयोगो मन्त्रयोग उपयोगश्च वासना।
राजन्त्येतद् ब्रह्मविष्णुशिव एभिश्च पञ्चधा॥

योगी स्वात्माराम ने श्रीशुकनाथ को प्रणाम करके केवल राजयोग की सिद्धि के लिए हठयोग का उपदेश दिया है।

"प्रणम्य श्रीशुकं नाथं स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते॥" ह० प्र० १।२

समाधिः—ध्यान की चरम परिणति समाधि है। पातञ्जल योग सूत्र के अनुसार समाधि ही योग है। योग की चरमावस्था समाधि है। घेरण्डसंहिता में भी श्रेष्ठ योग को समाधि कहा गया है। ईश्वरात्मक गुरु कृपा से ही इसका लाभ होता है[2]। ध्येय विषय मात्र का ज्ञान सम्प्रज्ञात समाधि है।

---

१. घे० सं० १।१०–११

२. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (यो० सू० ३।३)

'जिस अवस्था में केवल ध्येय विषय मात्र का ज्ञान रहता है—वही ध्यान समाधि है। चित्त ध्येय के चित्र के स्वरूप को आधान करता है। योग समाधि है और यह चित्त का सार्वभौम धर्म है। योगः समाधिः, सच सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। (व्या० भा० ३।३)

घेरण्डसंहिता के अनुसार मन को देह से पृथक् कर परमात्मा के साथ युक्त करे। इसी अवस्था को समाधि कहा जाता है। इस अवस्था में दश इन्द्रियों से सर्वथा असंयुक्त मन रहता है[१]। समाधि का यह स्वरूप शब्द भेद के साथ सभी दार्शनिकों एवं तान्त्रिकों ने स्वीकार किया है। द्रष्टा की स्वरूप स्थिति कहे या हठयोग प्रदीपिका के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य कहा जाय किन्तु इस अवस्था में सभी सङ्कल्पादि विनष्ट हो जाते हैं। इसका विश्लेषण करते हुए लिखा गया है कि मन की स्वतन्त्र स्थिति नहीं रहती है—जैसे लवण जल के साथ युक्त होने पर एक हो जाता है; वैसे ही मन आत्मा के साथ संयुक्त होकर एक हो जाता है—मन और आत्मा का ऐक्य ही समाधि है। समाधि के विषय में कहीं जीवात्मा परमात्मा के ऐक्य को ही मन की लयावस्था कही गई है। समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः'। किसी भी स्थिति में नित्यसमत्व भावनात्मक ध्येयाकारता समाधि है। इसी लिए तन्त्र में सर्वत्र ब्रह्मभावना के साथ अपने को भेद मूलक संसारी न मानकर संसार में आत्मस्वरूप से अतिरिक्त कुछ नहीं है—यह समत्व, ऐक्य, अभेद की स्थिति समाधि है। इस अवस्था की प्राप्ति से मनुष्य चराचर के कल्याण की दृष्टि से ही जीवन का उपयोग करता है, अतः राष्ट्र भावना एवं समाजिक तथा राजनीतिक स्थिति ऊर्ध्वतम भूमि पर अवस्थित रहती है।

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार—एकादश इन्द्रियों की अपने कार्य से विरति प्रदर्शन करते हुए अचल एकत्व भावना को समाधि कहा गया है। "न सुनता है, न सूंघता है, न स्पर्श करता है, न देखता है, सुख दुःख कुछ भी अनुभव नहीं करता है, सङ्कल्पहीन मन रहता है काठ के समान वह कुछ भी नहीं जानता है, ध्येय में विलीन आत्मावस्था समाधि है[४]"।

आचार्य अभिनवगुप्त ने समाधि का वर्णन करते हुए लिखा है—"जो काम की (कामना) अभिलाषा से सम्पन्न हैं वे देहात्मक इस वेदवाणी को स्वर्गफल

---

१. घटाद्भिन्न मनः कृत्वा ऐक्यं स्यात् परमात्मनोः।
समाधि तं विजानीयात् मुक्तसंज्ञो दशादिभिः॥ (हृ० प्र० ६।२)

२. तत्समं च द्वयोरैक्यं को वात्मपरमात्नोः।
प्रनष्टसर्वसङ्कल्यः समाधिः सोऽभिधीयते॥ (हृ० प्र० ४।६)

३. हृ० प्र० ४।५। यो० उ० १०६

४. कु० त० ६।१०–१४

से परिव्याप्त मानते हैं, जन्म और कर्म फल मानते हुए भेद भावना संश्लिष्ट समत्व से दूर ही रहते हैं, अतः वे विवेकी नहीं हैं। वेद को अपनी कल्पित वाणी के अनुरूप अभिप्रेत फल की प्राप्ति के लिए मानकर अपहृतचित्त हो व्यवसाय बुद्धि से युक्त जीवन व्यतीत करते हैं, वे समाधि की स्वरूप योग्यता भी नहीं रखते हैं, क्योंकि, नियतफल के अधीन ही वे रहते हैं अतः सुख-दुःख-मोहात्मक बुद्धि से वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में वे बन्धन में ही अपना जीवन प्रवाह चलाते रहते हैं, किन्तु फलाभिलाषा से शून्य होने पर सम्प्रज्ञात समाधि सम्पन्न होने पर वेद उनके लिए बन्धन का कारण नही होता है। जीवन युद्ध में वे आत्मानुग्रहशून्य होते हुए भी प्राणियों के प्रति अनुग्रह सम्पन्न हो लोक जीवन-यात्रा में तत्पर छ दोषों से मुक्त सुख-दुःख-मोह-शून्य निष्काम कर्म रत हो समत्व भावना सम्पन्न होने से वास्तविक समाधि में रहते हैं। फल की कामना के कालुष्य से परिव्याप्त रहने पर ही, कर्म फल के प्रति साधन होता है। योग = समाधि में स्थित हो कर्म करे, क्योंकि साम्य ही योग है[1]। रागद्वेष रहित मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। उसको शुभ से प्रसन्नता और अशुभ से ताप नहीं होता है। इन्द्रियों को विषयों से खींच कर आत्मा में स्थिर करना ही योग या स्थिरप्रज्ञता है। उपसंहार में कहा है—योगी का लोकोत्तर व्यवहार रहता है, अन्धकार-रूपिणी माया के विषय में वह उद्बुद्ध रहता है कि कैसे इसका त्याग करे, क्योकि वहाँ प्राणी अनेक कामनानुरूप चेष्टाओं में सुख दुःख मोह से अभिभूत होकर उनमें ही सतत रत रहता है, किन्तु नाम रूप एवं सुख सन्ततियों का अनादर कर योगी ज्ञान से सम्बुद्ध स्थिरप्रज्ञ प्रबुद्ध स्थिति में रहता है। वह कामनावश बाह्य विषयों की ओर गतिशील नहीं रहता है अतः, निर्मम, निरहंकार निःस्पृह होकर लोकयात्रा निर्वाह करता हुआ शान्तिपूर्ण सन्तुष्ट जीवन यापन करता हैं। अविद्या हेय या कामना का अवसान होने से इसको मोक्ष या निर्वाण कहा जाता है। उपसंहार में असम्प्रज्ञात निर्विकल्पक समाधि एवं माध्यमिकों के अनुसार शून्यता की यही स्थिति हैं।

षट्कर्मः—धौति, वस्ति, नेति, नौली, त्राटक, कपालभाति ये छ कर्म हैं।

धौति चार प्रकार की है। अन्तःधौति, दन्तधौति हृद्धौति, मूलशोधनधौति से शरीर निर्मल होता है।

अन्तःधौति भी चार प्रकार की है—वातसार, वारिसार, अग्निसार, एवं बहिष्कृत।

वस्ति—जिस प्रक्रिया से वस्ति प्रदेश का शोधन होता है, उसे वस्ति कहा जाता है, जलवस्ति और शुद्धवस्ति के भेद से यह दो प्रकार की है।

जलवस्तिः शुद्धवस्तिः वस्तिः स्याद्द्विधा स्मृता।

---

१. गी० अभिनव व्या० पृ० ११९–१३२

जलवस्तिं जले कुर्याच्छुकवस्तिं सदा क्षितौ ॥ (घे. सं. १।४६)

लौलिकी या नौलीः—पेट को एक तरफ से दूसरी ओर आन्दोलित करना है; इससे सभी रोग दूर होते है और देहाग्नि वर्द्धित होती है।

नेतिः—एक वित्ता परिमित सूक्ष्म तागा लेकर नासिका के छिद्र में प्रवेश करे और इसको मुख से बाहर करे—यही नेति कर्म है। इसमें खेचरी सिद्धि होती है; तथा कफ दोष का नाश एवं दिव्यदृष्टि का लाभ होता है।

त्राटकः—नेत्र से जब तक पानी नहीं आता है, तब तक एक सूक्ष्म लक्ष्य की ओर पलक गिराये बिना देखना त्राटक है। इससे शाम्भवी की सिद्धि होती है। सभी नेत्र रोगों का विनाश और दिव्यदृष्टि का लाभ होता है। कपालभातिः—वामक्रम व्युत्क्रम, शीत्कर्म के भेद से कपालभाति तीन प्रकार की है, इसके द्वारा दिव्यदृष्टि की प्राप्ति होती है।

वामक्रमः—वाँई नाक में ईडासे वायु भरकर दक्षिण नाक से रेचन करे अर्थात् पिङ्गला से रेचन करे। इस प्रकार पर्यायक्रम में पिङ्गला से धीरे-धीरे पूरक और ईडासे रेचन करे। इस योगाभ्यास से कफ दोष हटता है।[1]

व्युत्क्रमः—नाक से जल खींच कर धीरे-धीरे मुख से बाहर करे। इससे श्लेष्मा दोष नष्ट होता है।[2]

शीत्क्रमः—शीत्कार पूर्वक मुख से श्वास खीच कर नाक से बाहर करे। इस क्रिया से कामदेव के समान होता है, इस योगाभ्यास से वार्द्धक्य ज्वराधिक्य नहीं रहता है, शरीर स्वच्छन्द एवं कफ दोष नष्ट होता है।[3]

हठयोग-प्रदीपिका एवं दत्तत्रेयसंहिता के अनुसार मेद और श्लेष्मा के आधिक्य रहने पर ही षट्कर्म का आचरण करे, अन्य व्यक्ति नहीं करे।

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत् तानि दोषाणां समभावतः[4] ॥

कतिपय आचार्यों के अनुसार प्राणायाम के द्वारा ही सभी मलों का शोषण करे—यह माना है, आचार्य पतञ्जलि ने भी प्राणायाम से अतिरिक्त किसी अन्य कर्मों की आवश्यकता नहीं है—यही स्वीकार किया है।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत्कर्म न सम्मतम्[5] ॥

---

१. घे० स० १।५४ २. घे० सं० १।५९

३. शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालैर्विरचयेत् एवमभ्यासयोगेन कामदेव-समो भवेत्। न जायते वार्द्धक्यं च ज्वरो नैव प्रजायते। भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कफदोषं निवारयेत् ॥ (घे. सं. १।६०-६१)

४. ह० प्र० २।२६ ५. ह० प्र० २।३१

आसनः—हाथ पैर आदि संस्थान विशेष को विशिष्ट रूप में रखना आसन है। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार आसन हठयोग का प्रथम अङ्ग है। इनके अभ्यास से देह की स्थिरता आरोग्य और लघुत्व होता है। आसनों की चौरासी लक्ष संख्या कही गई है। इनमें चौरासी विशिष्ट है और इनमें भी बत्तीस का मुख्यतम स्थान है। यथा—सिद्ध, पद्म, भद्र, मुक्त, वज्र, स्वस्तिक, सिंह, गोमुख, वीर, धनु, शव, गुप्त, मत्स्य, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, पश्चिमोत्तान, उत्कट, सङ्कट, मयूर, कुक्कुट, कूर्म, उत्तानकूर्मक, उत्तानमण्डुक, वृक्ष मण्डुक, गरुड, वृष, शल, वृषमकर, उष्ट्र, भुजङ्ग एवं योग। घेरण्डसंहिता में आसन के फलों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है।

मुद्राः—मुद्रा भी आसन के समान ही शारीरिक अवस्था विशेष है। प्रधान रूप से इन मुद्राओं का निर्देश मिलता हैं। महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्ध, महाबन्ध, महाबोध, खेचरी, विपरीतकरी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी, ताडागी, माण्डुकी, शाम्भवी, पञ्चधारणी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी भुजङ्गिनी। इनके अतिरिक्त भी सुरभि, ज्ञान आदि मुद्रायें वर्णित हैं। इनके अभ्यास से योगियों को सिद्धि लाभ में सहयोग मिलता है।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर, विपरीतकरिणी, बज्रोली, शक्तिचालनी ये दश मुद्रायें वृद्धत्व और मृत्यु की नाशक है। "इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशकम्" मुद्रा का अभ्यास कुण्डलिनी के जागरण का प्रसारण हेतु है।

"तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।"
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥ (ह. प्र. ३।१२८)

मोक्ष :—योगसूत्र के द्वितीय पाद के बाइसवें सूत्र के व्यासभाष्य में कहा गया है कि—अनादिकाल से प्रवृत्त दृश्य-समुदाय कृतार्थ = ज्ञानी पुरुष के प्रति अर्थात् मुक्त पुरुष की दृष्टि से नष्ट अर्थात् लीन रहता है, किन्तु अकृतार्थ पुरुष के लिए दृश्य वर्ग भासमान रहता है। "कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्य-साधारणत्वात्" (२२ सू.) कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमपि अनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात्" (व्या. भा. २२) अतः प्राकृतजगत् से परे आत्मस्वरूप में अवस्थिति योगी की रहती है। यही कारण है कि पातञ्जल-योग सूत्र के प्रथम पाद के तृतीय सूत्र में बुद्धि से ज्ञात आत्मा का स्वरूप अविवेक-प्रयुक्त होने से स्वाभाविक रूप नहीं है, बुद्धि का स्वभाव सिद्ध रूप स्वरूप प्रतिष्ठत होना हैं। पुरुष की स्वरूप प्रतिष्ठता स्वभाव होने से अस्वरूप प्रतिष्ठता बुद्धिबोधात्मता या दृश्य वर्गों का दर्शन मिथ्याज्ञान प्रयुक्त ही मानना होगा। योग के द्वारा स्वरूप अवस्थिति होने पर तत्त्वज्ञान प्रयुक्त मिथ्याज्ञान का उच्छेद होने से बुद्धि बोधात्मता न रहने से पुरुष स्वरूपस्थ स्वस्थ हो जाता है।

आशय यह है कि चित्त की वृत्ति के निरोध का नाम योग या समाधि है। योग दो प्रकार का है, निर्विकल्पक योग और सविकल्पक योग। निर्विकल्पक योग की अवस्था में चित्त का ध्वंस होता है और असम्प्रज्ञात में पुरुष की स्वभाव में अवस्थिति होती है अर्थात् अपने स्वरूप में स्थिति रहती है, योगशास्त्र की दृष्टि में यही कैवल्य या मुक्ति है। स्तर स्तर पर प्रज्ञा के विकास के फल-स्वरूप चित्त का विनाश होने पर मुक्तावस्था आती है। निम्नलिखित प्रज्ञाओं के फलस्वरूप क्रमशः चित्त का विनाश होता है—

१. दुःख के कारण भूत संसार का ज्ञान होना तथा उसको जानने के लिए कुछ शेष नहीं रहता है।
२. संसार के मूल कारण का उत्पाटन हो गया है, अब उसका उत्पाटन शेष नहीं है।
३. निरोध समाधि के द्वारा यह उत्पाटन कार्य हुआ है।
४. पुरुष और प्रकृति का भेद ज्ञात हो गया है, इस प्रज्ञा की उपलब्धि होने पर कतिपय तात्त्विक घटनायें होती हैं।
   (क) बुद्धि की पुरुषार्थता सम्पन्न होती है।
   (ख) चित्त नष्ट होकर प्रकृति के रूप में अवस्थित होता है।
   (ग) बुद्धि अपने गुणों के स्वभाव में परिणत होती है।

बुद्धि आदि एवं गुण पुरुष के प्रति योग और मुक्ति उत्पन्न करता है। पुरुषार्थ विरहित कार्य-बुद्धि आदि और कारण-गुणत्रय का (मूल प्रकृतिस्वरूप गुणत्रय का) प्रतिलोम प्रश्रय या प्रतिपुरुष अर्थात् प्रकृति के रूप में अवस्थान को केवल का धर्म कैवल्य या मुक्ति कहा जाता है। स्वरूप प्रतिष्ठा अर्थात् बुद्धिवृत्ति का प्रति-बिम्ब पुरुष में प्रतिबिम्बित न होकर पुरुष का अपने शुद्ध निर्लिप्त चिद् भाव में अवस्थान करना है। चिति शक्ति ही स्वरूप है। ("पुरुषार्थ-शून्यानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति"[1]) प्रकृत में कैवल्य शब्द से पुनः उत्थान रहित विदेह कैवल्यावस्था है। कैवल्य अर्थात् चित् शक्ति की स्वरूपस्थिति अर्थात् द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान—यही असम्प्रज्ञात योग है। यह कैवल्यरूपा चिति-शक्ति असंहत है। संहतशक्ति ही पुनः पुनः कार्य का उत्पादन करती है। चैतन्य मात्र स्वरूपिणी असंहता चिति शक्ति से उस प्रकार का कार्य कभी भी उत्पन्न नहीं होता है, इसीलिए वह केवला है (चितिशक्तिरेव केवला[2])। इसका किसी भी समय बन्धन नहीं था समाधि की स्थिति में इसका मोक्ष भी किसी समय आविर्भूत नहीं होता है। बन्धन और मुक्ति इन दोनों से यह अतीत है। असम्प्रज्ञात योगावस्था ही मुक्ति है। असम्प्रज्ञात योग के लाभ होने पर पुरुष चितिशक्ति में

१. योग सू० कै० पा० ३४
२. व्यास भाष्य ३४

द्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठित होता है। प्रथम पाद के तृतीय सूत्र का यही अभिप्राय है। यह अवस्था पुरुष की सर्वथा गुण के वियोग की अवस्था है, पुनः कभी भी गुणों के साथ सम्बन्ध नहीं होता हैं। गुण के साथ एकान्त अत्यन्त वियोग ही कैवल्य या द्रष्टा का स्वरूप योग है। ("पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यं तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति"[१]) सत्वपुरुषान्यताख्यातिरूप विवेक ज्ञान में भी विरक्ति आने पर अविद्या आदि क्लेशबीज समस्त मन के साथ विनष्ट हो जाते हैं तभी स्वरूप प्रतिष्ठारूप मुक्ति होती है। (तद्वैराग्यादपि दोष-बीजक्षये कैवल्यम्।[२]) कैवल्यावस्था में अविद्या का अभाव होने पर प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध का अभाव होता है, यह आत्यन्तिक बन्ध्यत्व ही कैवल्य या स्वरूप प्रतिष्ठा है।[३] किसी-किसी ज्ञानी की जीवन दशा में ही आत्मख्याति की स्थिरता और मिथ्याज्ञान शून्यता आती है। वे सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा का अनुभव कर कुशल होते हैं; चित्त का अत्यन्त लय होने पर पुरुष कुशल या मुक्त होता है। क्योंकि वह गुणातीत हो जाता है। (सा. पा. व्या. भा. २७) प्रथम अवस्था जीवन्मुक्त है, द्वितीय कुशल विदेह मुक्त है, चित्त के लय से पूर्व जीवन्मुक्त अवस्था एवं शरीर के पात के साथ-साथ जब चित्त का भी लय हो जाता है तो इसको विदेह मुक्तावस्था कहा जाता है। कतिपय आचार्यों के मत में आनन्द या सुख प्रकृति का धर्म होने से कैवल्य में आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं रहती है। पुरुष का स्व-स्वरूप अवस्थान चैतन्य स्वरूप है, अतः चैतन्यमय अवस्था की स्थिति ही कैवल्य या मुक्ति है।

योगदर्शन और ईश्वर

योगशास्त्र में चित्तवृत्ति निरोध के उपाय निरूपण प्रसङ्ग में अधिमात्र तीव्र संवेग के द्वारा समाधि आसन्नतम होती है—इसका निरूपण कर व्यासभाष्य में यह आकांक्षा की गई है कि क्या यही एकमात्र आसन्नतम समाधिलाभ का साधन है या इससे अन्य भी उपाय हैं—जिस उपाय के द्वारा आसन्नतम समाधि हो सकती है। इसी प्रसङ्ग में विकल्प रूप में अन्य उपाय का प्रदर्शन करते हुए सूत्रकार ने कहा है—ईश्वर के प्रणिधान से भी समाधि आसन्नतम होती है। "ईश्वरप्रणि-धानाद्वा"। (यो. सू. १।२३)

तत्त्ववैशारदीकार ने पूर्वोक्त भाष्य की व्याख्या करते हुए 'नवा' शब्द को निश्चयार्थक अव्यय स्वीकार कर इसी रूप में सूत्र की व्याख्या की है और इसी अर्थ में इसका समन्वय किया है। वार्तिककार ने "न वा" शब्द को पाणिनि व्याकरणस्थ

---

१. विभूतिपाद ५० व्या० सा०
२. वि० पा० ५०
३. सा० पाद २५

"न वेति विभाषा" (पा० सू० १।२।४४) इस सूत्र के अनुरूप ही विकल्पार्थक मानकर आगे का व्याख्यान प्रदर्शित किया है। इसी विकल्प को सिद्ध करने के लिए कहा गया है—"ईश्वरप्रणिधानाद्वा" इसका पूर्व सूत्र में वर्तमान विशेष के साथ अन्वय विवक्षित है। अतः मृदु आदि तीव्रसंवेग से जो कार्य होता है, उससे भी विशेष ईश्वर-प्रणिधान से होता है। इनके सिद्धान्त में प्रणिधान शब्द का अर्थ, साधन पाद में कथित समाधि की सिद्धि ईश्वर के प्रणिधान से होती है[1]—यह विवक्षित नहीं है वरन् असम्प्रज्ञात की कारणीभूत जो समाधि है वह भावना विशेष ही है, क्योंकि प्रणिधान की व्याख्या "तज्जपस्तदर्थभावनम्" (यो. सू. १।२८) इस आगे के सूत्र के द्वारा ही कर दिया गया है। जीवात्मविषयक प्रज्ञान्त एवं ईश्वर-विषयक-प्रज्ञान्त को ही योग का उपाय कहा गया है। असम्प्रज्ञात समाधि के साधनवर्णन प्रसङ्ग में श्रद्धावीर्य्य-स्मृति-समाधिप्रज्ञा[2] को साधन रूप में कहा गया है। इस सूत्र की व्याख्या में वार्त्तिककार ने कहा है कि देव मनुष्य को जन्म के ग्रहण मात्र से असम्प्रज्ञात समाधि नहीं होती है, किन्तु श्रद्धा से आरम्भ कर प्रज्ञापर्यन्त योगोपाय के अनुष्ठान से ही असम्प्रज्ञात समाधि होती है। इस स्थल में प्रज्ञा का विश्लेषण करते हुए वार्त्तिककार ने कहा है कि प्रज्ञा, समाधि योग का अन्तिम अङ्ग है। समाहित चित्त वाले व्यक्ति को प्रज्ञा— जीवतत्त्वसाक्षात्काररूपविवेक या ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कार रूप विवेक उत्पन्न होता है और इस विवेक से वह यथार्थ वस्तु को समझता है।[3]

जीवात्मविषयक एवं परमात्मविषयक प्रज्ञापर्यन्त योग के उपाय कहे गये हैं, इनमें जीवात्मविषयक प्रज्ञापर्यन्त उपाय अधिमात्र तीव्रसंवेग रूप साधन के समवधान में ही असम्प्रज्ञात समाधि उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु परमात्मविषयक प्रज्ञापर्यन्त उपाय से अधिमात्र तीव्रसंवेग के अभाव में भी असम्प्रज्ञात आसन्नतम रहता है। ईश्वरविषयक एवं जीवविषयक ये दोनों प्रज्ञायें असम्प्रज्ञात योग अर्थात् मोक्ष हेतु हैं, दोनों प्रज्ञायें देहादि अभिमान की निवर्तिका हैं, अतः परवैराग्य रूप द्वारत्व उभयत्र समान है; फिर भी परमात्मप्रज्ञा से अधिमात्र तीव्रसंवेग के अभ्यास के विना भी असम्प्रज्ञात योग की हेतुता होने से यह प्रज्ञा श्रेष्ठ है। इससे प्रत्यग् चैतन्य की अधिगति है और दोनों में सर्वथा व्यवधान का अभाव भी है; इसीलिए श्रुतिस्मृति इतिहास आदि ने सर्वत्र ब्रह्म ज्ञान को ही मोक्ष का साधन कहा है; जीव तत्त्वज्ञान की मोक्ष हेतुता विरल ही है। यदि दोनों की प्रज्ञा का समान ही विकल्प रहे तो इन श्रुतियों का अर्थ सर्वथा विरुद्ध हो जायेगा।

श्रुति में कहा गया है—उसी को जानकर अमरत्व को प्राप्त करता है अन्य मार्ग मोक्ष की प्राप्ति के लिए नहीं है "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था

---

१. यो० सू० साधनपाद दृ० २६५। २. यो० सू० पृ० ५९

३. तदेवं ··· दिषयीकरोति। पृ० ६०

विद्यतेऽयनाय (श्वे० ६।१५, ३।८) उसी एक आत्मा को जानो, अन्य वाणी को छोड़ दो। यह अमरत्व का सेतु है "तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः" (मु० २।२।५)

स्मृति में भी कहा गया है कि—वह ईश्वर समष्टि रूप है, व्यक्त स्वरूप एवं अव्यक्त स्वरूप है। सभी का प्रभु है, सभी विशेष का वेत्ता है एवं समस्तशक्ति परमेश्वर स्वरूप है, जो दोषरहित शुद्ध, परात्मक, निर्मल, एक रूप है, उस परमात्मा का जो दर्शन करता है या अवगति करता है—वह ज्ञानी है; इससे अतिरिक्त अज्ञानी है। इस स्मृति के द्वारा ईश्वर विषयक ज्ञान ही मोक्ष का साधक कहा गया है।

जीव विषयक प्रज्ञा आसन्नतम योग के उत्पादन के लिए अभ्यास के अतितीव्रत्व की अपेक्षा रखती है किन्तु ईश्वर विषयक प्रज्ञा साक्षात् आसन्नतम योग का हेतु होने के कारण अभ्यास की अतितीव्रता की अपेक्षा नहीं करती है, इसमें किसी कारण विशेष की उपलब्धि या अपेक्षा नहीं होती है। पूर्वोक्त विषय के समर्थन के लिए ही भाष्यकार ने कहा है कि "प्रणिधानसे"। इसकी व्याख्या करते हुए वार्त्तिककार ने कहा है कि प्रणिधान ब्रह्मरूप से चिन्तन स्वरूप ही है। यह ईश्वर विषयक चिन्तन प्रेमात्मिका भक्ति है, उस भक्तिरूप प्रणिधान से ईश्वर को अभिमुख किया जाता है। ईश्वर के अभिमुख हो जाने पर ईश्वर की इस इच्छा मात्र से कि इस ध्यान करने वाले व्यक्तियों के लिए समाधि और मोक्ष आसन्नतम हो जाए, अर्थात् इस अनुग्रहात्मिका इच्छा मात्र से ही रोग और अशक्ति के कारण उपाय के अनुष्ठान की कमी होने पर भी एवं अधिमात्रतीव्र संवेग के कारणों के न रहने पर भी ध्याता का आनुकूल्य हो जाता है। इस तरह ईश्वर की इच्छा मात्र से प्रणिधान अर्थात् प्रेमात्मिका भक्ति की निष्पत्ति आदि के द्वारा योगियों के लिए समाधि आसन्नतम हो जाती है।[1]

विचारणीय है कि योग सिद्धान्त में प्रधान और पुरुष से अतिरिक्त अन्य तत्त्व को स्वीकार ही नहीं किया हैं, ऐसी स्थिति में प्रधान और पुरुष से अतिरिक्त यह कौन सा तत्त्व ईश्वर तत्त्व है? ईश्वर को प्रधान नहीं माना जा सकता है। कारण, ईश्वर को चेतन माना है और प्रधान अचेतन है। पुरुष चेतन है अतः ईश्वर को पुरुष माना जाय तो यह भी समीचीन नहीं है। कारण, सभी पुरुष चिन्मात्र स्वरूप होने के कारण चिन्मात्र स्वरूप में स्वतः ईश्वरत्व और अनीश्वरत्व का होना सम्भव नहीं है। वैशेषिक दर्शन के अनुयायियों ने नित्य इच्छा ज्ञानादिविशिष्ट को ही ईश्वर स्वीकार किया है, यदि उसी प्रकार यहाँ भी स्वीकार किया जाय तो इसके उत्तर में यही कहना होगा कि प्रधान और पुरुष से अतिरिक्त स्वतन्त्र ईश्वर को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। वेदान्तादि सिद्धान्तों में अविद्यारूप

---

१. ब्रह्मात्मना······भवत इत्यर्थः। पृ० ६४

उपाधि के द्वारा ईश्वर स्वरूप की कल्पना की गई है, उसी प्रकार इस दर्शन में भी ईश्वर की भी सिद्धि हो सकती है, किन्तु यह भी कथन ठीक नहीं है। कारण, अतिरिक्त ईश्वर तत्व के स्वीकार करने की अपेक्षा उपाधि रहित अवस्था में चेतन पुरुष रूप जीव में ही ऐश्वर्य मानना चाहिए और इसी जीव का ऐश्वर्य मानकर तदनुसार श्रुति और स्मृति के कथन की उपपत्ति हो सकती है, अतः जीव से अतिरिक्त ईश्वर को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार प्रधान और जीव से अतिरिक्त ईश्वर नहीं है—इस मत का समर्थन करने वाले सांख्यदर्शन का मत खण्डन करते हुए वार्त्तिककार ने कहा है—पूर्वोक्त सांख्य के आक्षेप का खण्डन करने के लिए ईश्वर स्वरूप का विश्लेषण करने के लिए इस "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" (पा० सू० १।२४) सूत्र की अवतारणा की है। भाष्य में इसका उत्थापन इन शब्दों के द्वारा किया गया है—"कोऽयमीश्वरो नामेति" शाङ्करभाष्य में अध्यास की स्थापना प्रसङ्ग में भी इन्हीं शब्दों से अध्यास का उत्थापन किया गया था—"कोऽयमध्यासो नामेति"। "किम्" शब्द का प्रयोग, जिज्ञासा आक्षेप आदि अनेक अर्थों में होता है। प्रकृत में वार्त्तिककार ने "किम्" शब्द का प्रयोग आक्षेप अर्थ में स्वीकार किया है। आक्षेप से अभिप्राय यह है कि ईश्वर क्या है ? अर्थात् ईश्वर कुछ भी नहीं है, यह निरूपण योग्य ही नहीं है। अर्थात् पूर्वपक्षियों के मत में ईश्वर कुछ भी नहीं है, इस आक्षेप का निराकरण करने के लिए आगे का सूत्र दिया है, अथवा किम् शब्द के द्वारा ईश्वर के लक्षण की जिज्ञासा की है, अर्थात् ईश्वर का क्या लक्षण है—यह जिज्ञासा की है; अतः ईश्वर का लक्षण सूत्रकार ने कहा है[1]।

क्लेश कर्म विपाक एवं आशय से अपरामृष्ट पुरुषविशेष ही ईश्वर है। अतः ईश्वर का पुरुष में अन्तर्भाव और इसकी उपाधि का प्रधान में अन्तर्भाव होता है। सांख्यमत के अनुसार सिद्ध जीव को लेकर ईश्वर की प्रतिपादिका जो श्रुति एवं स्मृति है उसकी उपपत्ति भी हो जायेगी, पूर्वोक्त आपत्तियों के निराकरण के लिए "अपरामृष्टः" एतत्पर्यन्त विशेषण दिया गया है, जीव के साथ क्लेशादि का सर्वथा असम्बन्ध नहीं रहता है, किन्तु ईश्वर के साथ क्लेशादि का कभी भी सम्बन्ध नहीं रहता है, अतः इतर मत सिद्ध जीव ईश्वर नहीं हो सकता है। कारण, योग में जो ईश्वर का स्वरूप प्रतिपादित किया है वह जीव में नहीं घटता है[2]।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश कहे गये है। धर्म=कुशल सुख के साधन है और अधर्म=अकुशल दुख के साधन है, अतः कुशल और अकुशल कर्म, धर्म और अधर्म है। कर्म का फल विपाक है और विपाक

१. क इत्याक्षेपे, अथ वा प्रकृतिपुरुषातिरिक्तस्येश्वरस्य किं लक्षणमिति प्रश्नेन लक्षणसूत्रमुत्थापयति। (वा० पृ० ६४)

२. क्लेश......अपरिमृष्टान्तं विशेषणम्। (वा० पृ० ६५)

जन्म, आयु और भोग हैं। भोग साक्षात् पुरुष को नहीं होता है। कारण वह शुद्ध चेतनस्वरूप है। अतः वार्त्तिककार ने कहा है कि विषय के सत्त्व आदि से चित्त का पोषण होता है अथवा यह शब्दाद्याकार वृत्ति हैं, सुखादि का अनुभव नहीं है। कारण, सुखादि का अनुभवरूप भोग पुरुष में सम्भव नहीं है। सुख आदि मन में रहते हैं, वह उस फल का भोक्ता है (स हि तत्फलस्य भोक्ता) इस कथन के द्वारा विपाक के फल सुख और दुःख का भोग पुरुष में ही रहता है। आशय से तात्पर्य चित्तभूमि में जो रहता है अर्थात् वासना के अर्थात् अनुगुण विपाक के कारण होता है, क्योंकि कर्म के द्वारा उस शरीर से साध्य भोगवासना का उद्बोधन करके ही विपाक कराता है। योगज फल के सम्पादक जो कर्म हैं, वे पूर्व में रहने वाले योगजभोगभावित भावना की अभिव्यक्ति के विना योगज के उचित भोग के जनक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वासना ही विपाक के कारण होती है।

यहाँ पूर्वोक्त अपरिमृष्टान्त तो सभी पुरुषों में साधारण रूप से वर्त्तमान है, पुरुष पद्मपत्र के समान निर्लिप्त चेतन होने से बुद्धि में ही वर्त्तमान क्लेशादि का पुरुष में व्यपदेश होता है, अतः ईश्वर का यह लक्षण अतिव्याप्त है।

इसके उत्तर में वार्त्तिककार ने कहा है कि यह सत्य है कि क्लेश आदि चित्त के धर्म है, किन्तु युद्ध स्थल में राजाओं के सैनिक युद्ध के लिए उपस्थित होते हैं, वहाँ परस्पर युद्ध करते हुए उन्हीं व्यक्तियों में किसी की जय और पराजय होती है फिर भी जय और पराजय उस राजा की मानी जाती है, जिस राजा की वह सेना रहती है। भोक्ता स्वामी ही होता है, कारण स्वामित्व ही भोक्तृत्व है। धन का स्वामित्व जिस पुरुष में रहता है वही व्यक्ति धनी कहा जाता है। संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध इसमें कारण नहीं है, वरन् स्वस्वामिभाव सम्बन्ध इस व्यवहार का नियामक है। इसी विषय की अभिव्यक्ति करते हुए समवाय सम्बन्ध से सुख आदि का आधार पुरुष नहीं है; वरन् समवाय सम्बन्ध से सुख, दुःख आदि चित्त में ही रहता है, किसी भी पुरुष में नहीं रहता है फिर भी सांसारिक पुरुष अर्थात् जीव में इसका व्यपदेश होता है। इस व्यपदेश का कारण स्वामित्व रूप भोक्तृत्व ही है। पुरुष का चित्त में प्रतिबिम्ब होता है और क्लेशादि का फल सुखदुःख पुरुष में प्रतिबिम्बित होते हैं, अतः वह उनका भोक्ता होता है। स्वस्वामित्व सम्बन्ध से भोग का आधार पुरुष होता है इसी में भाष्यकार ने राजा का उदाहरण प्रस्तुत किया है। अतः राजा के जयी के समान ही पुरुष क्लेशादिमान्, पुरुष सुखी, पुरुष दुःखी आदि व्यवहार होता है[१]।

यह विचारणीय है कि पूर्वोक्त दृष्टान्त में राजा और सेना का स्वस्वामिभाव पूर्व से क्लृप्त है, अतः राजा जयी आदि व्यवहार भी सङ्गत है। किन्तु प्रकृत में सुखादि के साथ पुरुष का पूर्व में समवाय सम्बन्ध नही है न अन्त में ही समवाय

१. वही पृ० ६५

है। अतः समवाय सम्बन्ध से पुरुष सुख दुःख आदि का आश्रय कैसे होता है ? इस विषय के उत्तर में वार्त्तिककार नें कहा कि समवाय सम्बन्ध से पुरुष में सुख आदि का अवस्थान अविद्या के कारण हो जाता है। अविद्या के द्वारा दोनों में विवेक बुद्धि नहीं रहती है और फलस्वरूप पुरुष में समवाय सम्बन्ध से सुख दुःख आदि के न रहने पर भी "पुरुषः सुखी" "पुरुषः दुःखी" आदि व्यवहार उपपन्न होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि क्लेशसम्पर्क से शून्यता अन्य पुरुष में नहीं है, यह मात्र ईश्वर में है। यदि यह कहा जाय कि "भर्ता भोक्ता महेश्वरः" इस गीता के वचन से ईश्वर में ही भोग की सिद्धि होती हैं। ऋतं पिवन्तौ आदि श्रुतियों के अनुसार भी अभिमान पूर्वक मुख्यभोग रूप सुखादि अनुभव का ही प्रतिषेध होता है, लोक में भोग के द्वारा इसी का व्यवहार प्रतिपादित होता है। अथवा जीव-भोग्य दुःखादि के भोक्तृत्व का प्रतिषेध ही श्रुतिसे अभिमत हैं, दुःख-भोग ईश्वर से विलक्षण है—इसी को अपरामृष्ट शब्द से कहा गया है, सुखसाक्षिता-मात्र ही प्रकृत में ईश्वर का भोग है। जीवन्मुक्त का भी ईश्वर के समान ही भोग नहीं है, क्योंकि दुःख-भोगमात्र ही ईश्वर से विलक्षण है। इसी की अभिव्यक्ति क्लेश से अपरामृष्ट इसके द्वारा की गई हैं। यदि क्लेशादि से शून्य ईश्वरकी श्रुति और स्मृति के द्वारा इच्छा करनी चाहिए, यह विवक्षित है, तब कैवल्य ज्ञानप्राप्त किये हुए अनेक हिरण्यगर्भ आदि केवली जीवन्मुक्तों के अध्यक्ष क्लेशादि शून्य वर्तमान हैं, अतः वे ही ईश्वर मान लिए जाय तो क्या आपत्ति है ? हिरण्यगर्भ आदि केवली तीन प्राकृतिक पूर्व स्थित बन्धनों का उच्छेद कर ही मुक्त होते हैं। अतः वे क्लेशादि परामर्शों से सदा शून्य नहीं हैं, किन्तु ईश्वर को सदैव क्लेशादि तीन बन्धनों से मुक्त श्रुति में कहा गया है। श्रुति में कहा गया है कि जो परमात्मा है वह नित्य निर्गुण है और जो कर्म पुरुष है वह मोक्ष या बन्ध से युक्त है। प्रकृत में निर्गुण शब्द से गुणाभिमानशून्य अर्थ कहा गया है। इसी विषय की अभिव्यक्ति नारद के वचनों से भी होती है—परमात्मा निर्गुण है और जीव अहङ्कार से युक्त है। ईश्वर और इच्छा का साम्य होने पर भी उसमें अनभिमान और अभिमान के द्वारा ही[1] निर्गुणत्व और सगुणत्व की सिद्धि होती है। अतः मुक्त जीव ईश्वर नहीं हो सकता है।

ईश्वर को अनेक मानने पर भी कोई दोष नहीं है, कारण ईश्वर में राग न होने के कारण परस्पर विरुद्ध इच्छा से सम्पन्न ये नहीं हो सकते हैं। यदि सभी ईश्वरों में एक समान इच्छा होती है, कभी भी विरुद्ध इच्छा नहीं होगी, तब एक ईश्वर की इच्छा के द्वारा ही कार्य हो सकता है, अतः अनेक ईश्वर को स्वीकार करना व्यर्थ ही होगा। किन्तु इस प्रसङ्ग में अनेक ईश्वर को मानने पर भी वे सब मिलकर एक प्रकार की इच्छा से कार्य करते हैं, अतः कोई दोष नहीं है। किन्तु, ऐसा मानने पर

१. पा० सू० भा० १।२५

कोई भी ईश्वर नहीं होगा। अनेक सभासदों के द्वारा कार्य किये जाने पर किसी एक का कर्तृत्व नहीं रहता है। यदि यह माना जाय कि अनेक ईश्वर होने पर भी वे एक साथ कार्य नहीं करते हैं, वरन् क्रमिक रूप में वे कार्य करते हैं। किन्तु ऐसा मानने पर ईश्वर का ऐश्वर्य नित्य कहा गया है, यह सम्भव नहीं होगा। अतः उनका कार्य क्रमिक नहीं हो सकता है। जो ईशना पूर्व दिन में कार्य करती है, वही आगे दिन भी कार्य क्यों नहीं करेगी? ईशना नित्य है, अतः उसमें विरति नहीं हो सकती है। अनित्य ईशना मानने पर ईश्वर की सिद्धि ही नहीं हो सकती है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि वेद में सिद्ध एक ईश्वरवाद का समर्थन ही सभी दार्शनिकों के द्वारा होता है।

पातञ्जल दर्शन में ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है, किन्तु वह अनादि सर्वज्ञ है। अतः न्याय-वैशेषिक में सिद्ध ईश्वर की सर्वज्ञता से योगदर्शन की सर्वज्ञता भिन्न है। पतञ्जलि ने सर्वज्ञता की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण का निर्देश किया है[1]। ज्ञानत्व, निरतिशय-किसी वस्तु में आश्रित है, सातिशय वृत्ति जाति होने से। (ज्ञानत्वम्, निरतिशय-किञ्चिदाश्रितम्, सातिशयवृत्तिजातित्वात्) जैसे परिमाणत्व-जाति, सातिशय परिमाण-वृत्ति होने से वह निरतिशय विभुपरिमाण में समवेत रहती है, वैसे ही ज्ञानत्व जाति भी सातिशय हम लोगों के ज्ञान में भी समवेत है, अतः जो सातिशय है वह निरतिशय ज्ञान में = सर्व विषयक ज्ञान में भी समवेत है। समान जातीय दो व्यक्तियों में एक से दूसरी उत्कृष्ट होती है और अन्य अपकृष्ट रहती है। इसी प्रकार समान जाति की दो वस्तुओं में एक अतिशयित और दूसरी सातिशय होगी। घट परिमाण और शराव परिमाण एक जातीय है, शराव लघु (जलपात्र) का परिमाण अतिशयित और घट का परिणाम सातिशय है। सातिशय घट परिमाण में समवेत परिमाणत्व जाति गगनादि निरतिशय परिमाण में भी समवेत रहती है।

गगन आदि विभुद्रव्य का परिमाण निरतिशय है, परिमाणत्व जाति सातिशय वृत्ति होने से वह निरतिशय वृत्ति भी है। अतः इसी के समान ज्ञानत्व जाति भी निरतिशय ज्ञान-व्यक्ति में समवेत होगी। ज्ञान का उत्कर्ष विषय के द्वारा ही होता है। ज्ञान के विषय के आधिक्य से ज्ञान का उत्कर्ष सिद्ध होगा। ज्ञानत्व जाति सातिशयवृत्ति होती है, अतः यह निरतिशय वृत्ति भी होगी। सभी विषयों का ज्ञान सातिशय या उत्कृष्ट होगा, अतः सर्व-विषयक-ज्ञान ही निरतिशय हुआ। सातिशय व्यक्ति में रहने वाली जाति यदि निरतिशय व्यक्ति वृत्ति होती है तब सातिशय ज्ञानव्यक्तिवृत्ति-ज्ञानत्वजाति निरतिशय ज्ञान व्यक्ति वृत्ति होगी। निरतिशय ज्ञान ही सर्वज्ञ पुरुष का ज्ञान है[1]। ज्ञान गुण है, अतः उसका आश्रय अवश्य हो रहेगा। निरतिशय ज्ञान का आश्रय ही सर्वज्ञ है।

---

१. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् (पा० सू० भा० १।२५)

इस प्रकार ईश्वर के जगत् के कर्ता न होने पर भी ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध होती है। ईश्वर का सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व यद्यपि श्रुति में प्रतिपादित है, तथापि इस मत में पुरुष को अकर्ता मानने से पुरुषविशेष ईश्वर भी अकर्ता है। वाचस्पति मिश्र ने ईश्वर में संहार की इच्छा का प्रतिपादन किया है, किन्तु सृष्टि की इच्छा का प्रतिपादन नहीं किया है। ईश्वर में जगत् का कर्तृत्व माननेपर ही ईश्वर में सृष्टि की इच्छा के कारण जगत् की सृष्टि और संहार की इच्छा के कारण प्रलय होता है।

पातञ्जल मत में पुरुष विशेष अकर्ता है, फलतः ईश्वर जगत् का संहार करने वाला भी नहीं हो सकता है। वाचस्पति मिश्र ने यह भी कहा है कि यदि ईश्वर उपदेशकर्ता हो सकता है, तब जगत् का कर्ता होने पर क्या दोष है? उपदेष्टृत्व जिस प्रकार आहार्यरूप है वैसे ही स्रष्टृत्व भी आहार्यरूप रहेगी।

किन्तु न्यायवैशेषिक मत के समान पातञ्जल मत में ईश्वर नहीं है। कारण, सांख्य और पातञ्जल मत में प्रकृति ही स्वभावतः साम्यपरिणाम और वैषम्यपरिणाम प्राप्त करती है। किसी अन्य से प्रेरित होकर प्रकृति यह परिणाम प्राप्त नहीं करती हैं। व्यासभाष्य में कहा गया है कि दोनों प्रकार से इसकी प्रवृत्ति—प्रधानव्यवहार को लाभ करती है। सांख्यसिद्धान्त में कर्तृत्व गुणत्रय में ही है। प्रकृति में ही कर्तृत्व है, पुरुष में नहीं है। व्यासभाष्य में भी कहा गया है—कर्तृत्व तीन गुणों में और अकर्तृत्व पुरुष में है। अतः पातञ्जल मत में ईश्वर में जगत् का कर्तृत्व सम्भावित नहीं है। पुरुष चिन्मात्ररूप है, अतः उसमें कर्तृत्व सम्भव ही नहीं है। वाचस्पति मिश्र ने जो ईश्वर के कर्तृत्व की सिद्धि करने का प्रयास किया है, वह शैवसिद्धान्त के प्रति अनुराग के कारण कहा है। निर्गुण ईश्वर में यह सम्भव नहीं है। प्रलय दशा में ईश्वरीय चित्तसत्त्व प्रकृति में विलीन हो जाता है, अतः उस समय चित्तसत्त्व की वृत्ति नहीं होती है। व्यासभाष्य में कहा है—"स तु सदैवेश्वरः सदैव मुक्तः" (प० सू० १।२४) प्रलय में ईश्वरीय चित्त वृत्ति प्रकृति में विलीन 'होने पर ईश्वर में ऐश्वर्य भी स्थित नहीं रह सकेगा। ईश्वरीय चित्त प्रलय में प्रकृतिभाव प्राप्त कर पुनः ईश्वरीय चित्तरूप में प्रादुर्भाव रहकर प्रकृति में विलीन होता है—यही सत्कार्यवाद की मर्यादा है। प्रलयदशा में ईश्वरीय चित्तसत्त्व ज्ञानादि रूप में परिणत होने योग्य अवस्थित रहता है, अत एव ऐश्वर्य को नित्य कहा गया है। ईश्वरीय चित्तसत्त्व अप्राकृत है—यही मानना पड़ेगा। ईश्वरीय चित्तसत्त्व की प्रकर्षता ही ईश्वर का प्रकर्ष है। चैतन्य में स्वभावतः कोई प्रकर्ष या अप्रकर्ष नहीं हो सकता है। ईश्वरीय चित्तसत्त्व की प्रकर्षता से ही ईश्वरीय ज्ञान सर्व-विषयक है और इसीलिए ईश्वर में सर्वज्ञत्व है। ईश्वरीय चित्तसत्त्व की प्रकर्षता से ही ईश्वरीय ज्ञान सर्व-विषयक है और यही कारण है कि ईश्वर सर्वज्ञ और उपदेष्टा है।

इस प्रसङ्ग में योगभाष्यकार ने प्रणिधान शब्द का अर्थ भक्ति विशेष किया है।
१. मानस-भक्ति। २. वाचिक-भक्ति। ३. कायिक-भक्ति।

प्रणिधान के द्वारा अभिमुखीकृत योगियों पर अभिध्यान मात्र के द्वारा अनुग्रह करते है। अभिध्यान अनागत अप्राप्त अर्थ विषयिणी इच्छा है, अन्य उपायों के अनुष्ठान के विना भी ईश्वर के अभिध्यान से ही योगियों की आसन्नतम समाधि के साथ-साथ समाधि का फल भी सम्पन्न होता है।[1]

महामहोपाध्याय डॉक्टर योगेन्द्रनाथ बागची ने विश्लेषण प्रसङ्ग में लिखा है कि व्यास भाष्य के अनुसार कैवल्यावस्था में भी सुख की सत्ता मानी गई है, यह विषय सम्बन्ध जन्य नहीं हो सकता है, अतः प्रकारान्तर से आत्मा की ही सुखस्वरूपता सिद्ध होगी। ३।१८ वे सूत्र के व्यासभाष्य में कहा गया है कि योगाचार्य आवट्य ने भगवान् जैगीषव्य से जिज्ञासा की कि आपका बुद्धिसत्त्व किसी भी समय अभिभूत नहीं होता है, इसलिए आप विगत दश महासर्गों में नारक, तिर्यक् आदि योनियों में उत्पन्न होकर जिन दुःखों का अनुभव किया था एवं देव मनुष्य आदि योनियों में पुनः पुनः जन्मग्रहण कर जो अनुभव किया था, इनमें इन अतीत जीवनों के सुख और दुःख में किसे अधिक प्राप्त किया। इसके उत्तर में जैगीषव्य ने कहा कि मेरा बुद्धिसत्त्व किसी भी अवस्था में अभिभूत नहीं होता है, अतः मैं यह कह सकता हूँ कि विगत दश महासर्गों में नाना योनियों में उत्पन्न होकर जो कुछ भी अनुभव किया है वह सब दुःख का ही अनुभव किया है। आवट्य ने पुनः जिज्ञासा की कि इस समय आप प्रधानवशित्व की उपलब्धि कर अत्युत्तम सन्तोष सुख का अनुभव कर रहे हैं, क्या आप इस सुख को भी दुःख ही मानते हैं ? इसके उत्तर में जैगीषव्य ने कहा कि विषय सुख की अपेक्षा प्रधानवशित्व निबन्धन सन्तोष सुख उत्तम है—यह कहा गया है, किन्तु कैवल्य सुख की अपेक्षा यह सुख भी दुःख ही है, इस विश्लेषण से कैवल्य सुख की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध होती है-अतः पातञ्जलदर्शन में व्यास भाष्य की इन पंक्तियों के अनुसार मोक्ष की सुख-स्वरूपता ही सिद्ध है।

सांख्य और ईश्वर :—

सांख्य और योग को समान कोटि में रखने पर भी सांख्यमत में ईश्वर नहीं है और योग में ईश्वर है। किन्तु सांख्यकारिका की व्याख्या के प्रसङ्ग में युक्तिदीपिका में कहा गया है कि वेदवाक्य के अनुसार मूर्तिमान् ईश्वर को यदि माना गया है तब सांख्यमत में ईश्वर का अस्तित्व ही सिद्ध होता है। ईश्वर के विना उसकी मूर्ति कैसे सम्भव है ? "नहि असतो मूर्तिमत्त्वमुपपद्यते" (यु० दी० पृ० ७) इस प्रसङ्ग में टीकाकार का कथन है कि सर्वथा भगवान् की शक्ति विशेष का प्रत्याख्यान नहीं है। ईश्वर-माहात्म्य शरीर आदि धारण करता है, किन्तु प्रधान और पुरुष से

---

१. "प्रणिधानाद् = भक्तिविशेषान्मानासद्वाचिकात्कायिकाद्वाऽऽवर्जितः = अभिमुखीकृतस्तमनुगृह्णाति, अभिध्यानम् = अनागतेऽर्थ इच्छा, इदमस्याभिमतमस्त्विति, तन्मात्रेण न व्यापारान्तरेण।" (त० वै० पृ० ६३, ६४)

अतिरिक्त ईश्वर है, वह प्रधान और पुरुष का प्रयोक्ता प्रेरयिता है—यह नहीं मानता हूँ। इस रूप में ईश्वर नहीं मानता हूँ—इसका अर्थ ईश्वर को नहीं मानता हूँ—यह कैसे हो सकता है ? अतः श्रुतिसिद्ध ईश्वर महात्म्य शरीर आदि मैं मानता हूँ। (यु० दी० पृ० ८७)

पातञ्जल योगदर्शन में कहा गया है कि "निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरण-भेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्" (पा० सू० ४।३) जगत् की सृष्टि में प्रकृति का स्वातन्त्र्य है। जड प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए जगत् के रूप में परिणत है। स्वतन्त्र होने के कारण प्रकृति के कार्य के लिए प्रेरक की आवश्यकता नहीं है। निर्माता न होने पर भी वह जगत् का आदि गुरु उपदेष्टा है। "सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" (यो० सू० १।२६) वेद ईश्वर वाक्य है, अतः, वेद को ईश्वर निर्मित अवश्य मानना पड़ेगा। अतः प्राणि मात्र के हित का उपदेश करने वाला अवश्य ही सर्वज्ञ होगा, असर्वज्ञ पुरुष सभी के यथार्थ हित का शासन नहीं कर सकता है। राग द्वेष शून्य सभी वस्तु का यथार्थ ज्ञाता ही उपदेष्टा हो सकता है, यही कारण है कि पूर्वोक्त सूत्र के द्वारा स्वतन्त्र रूप से ईश्वर की सर्वज्ञता प्रतिपादित की गई है। इस मत में ईश्वर की चर्चा ही क्या योगियों को भी सर्वज्ञ माना गया है।[1] अन्तर इतना ही है कि ईश्वर अनादि सिद्ध सर्वज्ञ है और योगी अपनी साधना के बल पर सर्वज्ञता सम्पादन करते है। बौद्धमत में सर्वज्ञता बुद्ध की मानी गई है, किन्तु यह सर्वज्ञता सम्पादित है, अनादि नहीं है।

प्रमाण और वृत्तियाँ :—

प्रमाण के विना किसी भी पदार्थ का निश्चय नहीं होता है, "प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि" यह शास्त्र का उद्घोष है।

सांख्ययोग और प्रमाण:—

विषयके साथ इन्द्रियका सम्वन्ध होने पर या व्याप्ति आदि ज्ञानों से बुद्धि की विषयाकार परिणति ही प्रमाण है। विषयके आकार और प्रकार के अनुरूप ही चित्त का आकार होता है। निश्चयरूपा चित्तवृत्ति ही अर्थ में बुद्धिवृत्ति है। सन्देहरहित अवाधित एवं अनधिगत ही प्रमाण का विषय होता है। संशयपूर्ण ज्ञानके बाद जिस विषय का वाध होता है एवं जो एक बार ज्ञान का विषय हो गया है-ऐसा पदार्थ कभी भी प्रमाण ज्ञान का विषय नहीं होता है। विषयाकार में परिणत चित्तवृत्ति में चिन्मय पुरुषके फल स्वरूप पुरुष सम्वन्धी ज्ञानकी उत्पत्ति ही प्रमा है। प्रमाज्ञान का साधन ही प्रमाण है। विषय का ज्ञान होने पर उस

---

१. तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयक्रमञ्चेति विवेकजं ज्ञानम् । (पा० सू० ३।५४)

प्रमेय का जिस पुरुष को ज्ञान होता है वही प्रमाता है। इस प्रमाण के चार अङ्ग है—प्रमाता, प्रमा, प्रमेय और प्रमाण। संशय, विपर्यय एवं स्मृतिकी साधिका बुद्धिवृत्ति प्रमाण नहीं है। संशय साधक बुद्धिवृत्ति का विषय सन्दिग्ध, विपर्यय साधन बुद्धिवृत्ति का विषय ज्ञान की उत्पत्ति के बाद ही बाधित होता है, स्मृति साधनबुद्धिवृत्ति का विषय पूर्व से ज्ञात है। "तच्चासन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः। बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा। तत्साधनं प्रमाणमिति। एतेन संशय-विपर्ययस्मृतिसाधनेषु न प्रसङ्गः। (सां. का. ४)

सांख्ययोगदर्शन में तीन प्रमाण हैः—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द[1]।

प्रत्यक्षप्रमाणः—"प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्" यह प्रत्यक्षलक्षण ईश्वरकृष्ण ने कहा है। जिस स्वरूप से ज्ञान निरूपित होता है उसको विषय कहा जाता है। विषय शब्द उपलब्धि का कर्म है। बाह्य और आन्तर भेद से विषय दो प्रकार का है। शब्द, रूप, रस आदि बाह्य विषय हैं। सुख, दुख आदि आभ्यन्तर विषय हैं। विशेष और अविशेष के भेद से पुनः दो प्रकार का है। स्थूल पृथिवी साधारण ज्ञान का विषय है। सूक्ष्म तन्मात्र आदि योगियों के ज्ञान का विषय है।

विषिण्वन्तीति विषयाः शब्दादयः अथ वा विषीयन्ते उपलभ्यन्त इत्यर्थः। ते च द्विविधाः—विशिष्टाः पृथिव्यादिलक्षणा अस्मदादिगम्याः, अविशिष्टाश्च तन्मात्र-लक्षणा योगिनामूर्ध्वस्रोतसां च गम्याः"। (यु. दी. पृ. ४)

पूर्वोक्त लक्षण में "विषयं विषयं प्रति वर्तत इति प्रतिविषय शब्द का अर्थ इन्द्रिय होता। विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर इन्द्रिय में विषय का प्रतिबिम्ब होता है। प्रतिबिम्ब विशिष्ट इन्द्रिय बुद्धि से सम्बद्ध होती है। त्रिगुणा-त्मक अहङ्कार की सत्त्वगुण प्रधान अवस्था से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। सात्त्विक इन्द्रिय के सम्बन्ध के फलस्वरूप बुद्धि के आवरणात्मक तमोगुण का अभिभव और सत्त्वगुण की प्रबलता से बुद्धि विषय के आकार में परिणत होती है। ऐसा विषय है" यह अध्यवसायात्मक वृत्ति होती है। बुद्धि की विषयाकार में परिणति ही अध्यवसाय है। अचेतन प्रकृति से उत्पन्न बुद्धितत्त्व अचेतन है और उसका परिणाम भी घटादि के समान ही अचेतन है। चन्द्रबिम्ब के समान बुद्धितत्त्व स्वभाव से प्रकाशरहित है। चेतन के सम्बन्ध के बिना जडवस्तु का प्रकाश सम्भव नहीं है। अतः सत्त्वाधिक्य के कारण स्वच्छ विषयाकार में परिणत बुद्धिवृत्ति में चिन्मय पुरुष के प्रतिबिम्ब की कल्पना है। चेतनपुरुष के साथ अभिन्नता के कारण पुरुष-धर्मचैतन्य से बुद्धि एवं उसका अध्यवसाय चेतन के समान होता है। यह प्रकाश-स्वरूप बुद्धिवृत्ति ही दृष्ट या प्रत्यक्ष शब्द से कही जाती है। यही प्रत्यक्षप्रमाण है। बुद्धिवृत्ति में पुरुष का प्रतिबिम्ब होने से पुरुष में बुद्धि स्वरूपता का आरोप होता है। अन्तःकरण वृत्ति के साथ अविशिष्ट पुरुष की अन्तःकरण वृत्ति का ज्ञान होता है।

---

१. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। (यो० सू० १।७)

इसलिए बुद्धि तत्त्वगत ज्ञान सुखादि के द्वारा पुरुष अपने को ज्ञानी, सुखी, दुःखी समझता है। वस्तुतः पुरुष ज्ञान सुख आदि से असम्पृक्त है। सरोवर के जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ने पर जल में उत्पन्न तरङ्ग से सूर्य तरङ्गयुक्त प्रतीत होता है—वही स्थिति यहाँ भी है। प्रमाण प्रयुक्त चेतना शक्ति का अनुग्रह ही फल या प्रमा है। अनादि अविद्या के कारण पुरुष के साथ बुद्धि का सम्बन्ध होता है और सुख-दुख आदि का भोग होता है। वाचस्पतिमत में विषयाकार परिणत बुद्धि वृत्ति ही प्रमाण है। जिस विषयके आकार में बुद्धि परिणत होती है वही प्रमेय या ज्ञेय है। विषय के सम्बन्ध से पुरुष का ज्ञान प्रमा है। बुद्धितत्त्व में कर्तृत्व रहता है, बुद्धि प्रतिबिम्बित पुरुष कर्तृत्वशून्य होकर भी कर्त्ता के रूपमें प्रतीयमान होता है।[1]

विज्ञान भिक्षु के मत में नियत विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है। इन्द्रिय के द्वारा विषय के साथ बुद्धि का सम्बन्ध होने से बुद्धि विषयाकाररूप में परिणत होती है। विषयाकार रूप में परिणत बुद्धि की इस अवस्था को बुद्धिवृत्ति कहा जाता है। विषयाकार परिणत होने के साथ-साथ बुद्धि पुरुष में प्रतिफलित होती है। यह घर है, यह पट है केवल विषय का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस समय ज्ञान का या ज्ञाता का प्रकाश नहीं होता है। 'मैं घट जानता हूँ' इस रूप में ज्ञान का ज्ञान उत्पन्न होने के लिए तादृश ज्ञान प्रयुक्त ज्ञातृस्थानीय पुरुष का ग्रहण आवश्यक है। पुरुष का ग्रहण चित्त की पुरुषाकार वृत्ति के द्वारा सम्भव होता है। कारण, पुरुष ही द्वितीय ज्ञान का विषय एवं पुरुषरूप विषय का ज्ञान तदाकार चित्तवृत्ति के द्वारा सम्भव होता है। चित्त का पुरुषाकार परिणाम होने पर "घट-महं जानामि" यह ज्ञान सम्भव नहीं है। क्योंकि चित्त जडस्वरूप है, जडवस्तु का स्वयं कोई ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः, भिक्षु के मत में सभी ज्ञान पुरुषरूप अधिकरण में सम्भव है, क्योंकि पुरुष चैतन्य स्वभाव है। ये पाँच वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट के भेद से दो प्रकार की हैं। जीव को क्लेश सम्पादक वृत्तियाँ क्लिष्ट हैं और इसके विपरीत वृत्तियाँ अक्लिष्ट हैं।

---

1. In external perception the senses move forward to meet the objects and when contact occurs the sourses are transformed into the shape of the objects. The mind (Buddhi) is then automatically transformed into the shape of the objects, But the sense and mind being both unconcious their transformation cannot be terned Knowledge. It is he spiritual illumination of the mental form which makes Knowledge possible.

(Dr. S. Mookerji Hist. of Phil. Eastern and Western p. 254)

निर्दिष्ट वृत्तियों में प्रमाणवृत्ति तीन प्रकार की है।

१—प्रत्यक्ष प्रमाणवृत्ति।

२—अनुमान प्रमाणवृत्ति।

३—आगम या शब्द प्रमाणवृत्ति।

इन्द्रियाँ नाडी अर्थात् चित्त के सञ्चरण का मार्ग है। इन्द्रियों के द्वारा बाह्य-वस्तु के साथ चित्त का सम्बन्ध होता है। विषयों के साथ संयुक्त होकर बाह्यवस्तु के साथ उपरक्त चित्त इन्द्रिय के साथ अर्थाकार परिणत होता है[1]। बुद्धि की वृत्ति अध्यवसाय अर्थात् निश्चयात्मक है, अभिमानात्मिका वृत्ति अहङ्कार की एवं सङ्कल्प और विकल्प मन की वृत्ति है। विकल्प संशय है या योगोक्तभ्रम विशेष है, विशिष्ट ज्ञान नहीं है, क्योंकि, वह बुद्धि वृत्ति है। बाह्यवस्तु सामान्य और विशेषात्मक है। वस्तु का नाम जाति आदि से रहित साधारण स्वरूप है। वस्तु गत गुण, क्रिया जाति आदि विशेष धर्म है। बाह्यवस्तु सामान्य विशेषात्मक होने पर भी विशेष के साथ इन्द्रिय की सहायता से चित्त का सम्बन्ध होने से वस्तु-का गुण, जाति, क्रिया आदि विषय में विशेषावधारण युक्त होकर चित्त विषय के आकार में परिणत होता है। यह चित्तवृत्ति ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमाण में वस्तु का सामान्यरूप प्रतिभात होने पर भी विशेष अवधारण में वह गौणत्व को प्राप्त करता है। इसके बाद चित्तवृत्ति के साथ अविशिष्ट पुरुष का चित्तवृत्ति बोध होता है। वस्तु का गुण क्रिया, जाति आदि विशेष परिचय युक्त होकर चित्त में विषयाकार वृत्ति उत्पन्न होती है, इस कथन से अनुमान और आगम से प्रत्यक्ष प्रमाण को पृथक् किया है। अनुमान और आगम प्रमाण में वस्तु सामान्य रूप में प्रतिभात होती है; विशेष रूप में नहीं होती है।

"इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्, फलविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिर्बोधः[2]।

प्रत्यक्ष के समय योगभाष्यकार की दृष्टि से विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है। विज्ञानभिक्षु भी इसी मत का पोषण करता है। वाचस्पति के मत में प्रत्यक्ष-ज्ञान-काल में प्रथम में निर्विकल्पक ज्ञान एवं बाद में सविकल्पकज्ञान उत्पन्न होता है।[3]

---

१. इन्द्रियाण्येव नाडीचित्तसञ्चरणमार्गः, तैः संयुज्य तद्गोलकद्वारा बाह्यवस्तुषूपरक्तस्य चित्तस्येन्द्रियसाहित्येनैवार्थाकारः परिणामो भवति।

(यो० वा० १।७)

तथा च बुद्धेर्वृत्तिरध्यवसायः, अभिमानोऽहङ्कारस्य, सङ्कल्पविकल्पौ च इत्यायातम्।···तस्य बुद्धिवृत्तित्वात्। (सां० प्र० भा० २।३०)

२. यो० भा० १।७

3. The explaination of vyāsabhāṣya explicitly makes perceptual intuition determinte.

(Hist. of Phil. Eastern and westean Vol. I. p. 255)

जिस प्रकार "अयं घटः" यह ज्ञान घटाकारचित्तवृत्ति का पुरुष में प्रतिबिम्बन होने पर ही सम्भव होता है। उसी प्रकार पुरुषरूप विषय का ज्ञान भी पुरुषाकार चित्तवृत्ति का पुरुष में प्रतिबिम्बन होने पर ही सम्भव है। इसलिए "अयं घटः" इत्यादि ज्ञानयुक्त पुरुष चित्त में प्रतिफलित होता है एवं चित्त पुरुषाकार को ग्रहण करता है। पुरुषाकार में आकारित चित्तवृत्ति जब पुरुष में प्रतिफलित होती है, तब "अहं घटं जानामि" इत्यादि ज्ञान और ज्ञाता का ज्ञान होता है[1]।

चिन्मय एवं विभु होने पर भी पुरुष को सदा सभी पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है, कारण, पुरुष असङ्ग है। उसकी अर्थाकारता, स्वाभाविक नहीं है। अर्थाकारता के विना केवल संयोग से अर्थ का ग्रहण नहीं होता है। जलादि में रूपवान् पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब होता है, रूप के बिना प्रतिबिम्ब नहीं होता है। पुरुष का भी इसी प्रकार विषयोपरक्त अपनी अपनी बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब होने पर ही पुरुष को विषयका ज्ञान होता है।[2] भोग शब्द का अर्थ आत्मसाक्षात्कार होता

---

1. Vijñanabhikṣu asserts that apprehentīon is possible only through transformation of the mind. The mind can perceive an object whose shape it assumes. But mental transformation is perceived only when it is reflected in the Puruṣa. All cognition takes place in the being of Puruṣa and not in the mind. This primary reflection of the mental form of the object constitutes objective cognition viz. "This is a jar" As regards the subjective Judgement "I Know the jar" it requires another process. In this judgment the Subject is as much a content as the object. But as cognition of an object is possible only through a Corresponding mental transformation on, the Knowledge of the Subject. I can occur only when the mind is transformed into the form of the 'I: And this transformation is imaged in the pure Spirit, thus Knowledge 'I Know the jar' takes place. Here instead of one reflection we have got two, and according two mental modifictions. Hist. of Philosophy pp. 254–255

२. एतेन पुरुषाणां कूटस्थविभुचिद्रूपत्वेऽपि न सर्वदा सर्वाभासनप्रसङ्गः। असङ्गतया स्वतोऽर्थाकारत्वाभावात्। अर्थाकारतां विना च संयोगमात्रेणार्थग्रहणस्यातीन्द्रियादिस्थले बुद्धावदृष्टत्वादिति। पुरुषे च स्वस्वबुद्धिवृत्तीनामेव प्रतिबिम्बार्पणसामर्थ्यमिति फलबलात् कल्प्यते; यथा, रूपवतामेव जलादिषु प्रतिबिम्बनसामर्थ्यं नेतरस्येति। (सां० भा० १।८७)

है। यह भोग देह से चेतन जीवपर्यन्त सभी का साधारण धर्म है। किन्तु पुरुष अपरिणामी होने से प्रतिविम्ब ग्रहण ही उनका भोग है। देह आदि सभी पदार्थ परिणामी है, पुष्टिसाधन आदि ही परिणामी पदार्थ का भोग है। यह परिणाम रूप पारमार्थिक भोग पुरुष में सम्भव ही नहीं है। अतः विज्ञानभिक्षु के मत में चेतन पुरुष प्रमाता या ज्ञाता है। विषयाकार में परिणत बुद्धिवृत्ति प्रमाण हैं। विषयोपरक्त बुद्धिवृत्ति का पुरुष में प्रतिविम्बपात प्रमा या ज्ञान है। जिस विषय के आकार में बुद्धि परिणत होती है—वही प्रमेय या ज्ञेय है; बुद्धि के इस अर्थाकार रूप परिणाम को पुरुष देखता है—अतः यह साक्षी भी कहा जाता है। इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि विषय का ज्ञान केवल सन्निकर्ष के द्वारा ही नहीं होता है, अपितु सन्निकर्ष के फलस्वरूप चित्त का विषयाकार परिणाम ही उस ज्ञान का हेतु है। विषय बाह्य हो या आभ्यन्तर विषयाकार में परिणत चित्त वृत्ति का चैतन्य स्वभाव पुरुष में प्रतिविम्बित होने पर ही ज्ञान होता है। दूसरी दृष्टि से चित्तवृत्ति पुरुष में प्रतिविम्बित होती हैं एवं पुरुषाधिकरण में ही ज्ञान उत्पन्न होता है, अन्तःकरण में या अन्तःकरण वृत्ति में नहीं होता है।

आचार्य वाचस्पति के मत में विषयाकार परिणत चित्तवृत्ति में पुरुष प्रतिफलित होता है। पुरुष का प्रतिविम्ब पुरुष के समान स्वच्छ स्वभाव और प्रकाशवत्त्व धर्म विशिष्ट होने से विषय-वृत्ति एवं अन्तःकरणावच्छिन्न पुरुषप्रतिविम्बस्वरूप ज्ञाता का एक साथ प्रकाश होता है। इस मत में विषयाकार वृत्ति होने पर उसमें पुरुष प्रतिविम्बन अवश्यम्भावी है एवं प्रतिविम्बित चैतन्य ज्ञेय (विषय) ज्ञान (चित्तवृत्ति) एवं आत्मस्वरूप ज्ञाता को एक साथ प्रकाशित करता है। 'अयं घटः' एवं 'घटमहं जानामि' इस प्रकार का ज्ञान एक समय में उत्पन्न होता है[1]। त्रिपुटी प्रकाशवादी प्रभाकर के मत में भी ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता एक समय में ही प्रकाशित होता है। 'अयं घटः' 'अहं घटं जानामि' ये दोनों ज्ञान स्वरूपतः अभिन्न है वक्ता के तात्पर्य एवं विवक्षा के अनुसार भिन्न आकार में ज्ञान प्रकाशित होता है।

---

1. The former (Vācaspati) holds that the mind and its modifications being extremely clear and mirror like owing to the preponderance of the Sattva element is the closest possible analogue of Pure spirit and so it at once catches the reflection of thr Spirit and then becomes the consious as it were. This constitutes Knowledge. So every case of perceptual intuition is a Judgement of the form 'it is a jar' and 'I know it so' This is called the theory of single reflection.

(Hist. of Phil.—Eastern and Western p. 245)

इस प्रसङ्ग में विज्ञान भिक्षु ने वाचस्पति के सिद्धान्त का खण्डन किया है। इनका कथन है कि बुद्धिवृत्ति में चेतन पुरुष का प्रतिविम्ब पतन के फलस्वरूप बुद्धि एवं उसका अध्यवसाय चैतन्यमय हो जाता है–यह समीचीन नहीं है। क्योंकि प्रतिविम्ब तुच्छ है। चेतनपुरुष का प्रतिबिम्ब चेतनामय नहीं है, अतः,इस प्रतिबिम्ब से बुद्धिवृत्ति चैतन्य को लाभ नहीं कर सकती है। बुद्धि में केवल पुरुष के प्रति-विम्वपात से पुरुष का भोग सम्भव नहीं है। पक्षान्तर में चेतनपुरुष में विषयाकार में परिणत बुद्धिवृत्ति का प्रतिविम्ब होने से पुरुष के साथ उसका यथार्थ सम्बन्ध होता है—यही मत समीचीन है। इसके उत्तर में वाचस्पति का कहना है कि बुद्धि के साथ पुरुष का देशगत और कालगत संयोग नहीं हो सकता है। बुद्धि और पुरुष के सान्निध्य का अर्थ विशिष्ट योग्यता है; पुरुष की भोक्तृत्वयोग्यता एवं बुद्धि की भोगत्व योग्यता है। इस योग्यता के फलस्वरूप पुरुष के निर्विकार होने पर भी प्रकृति के पाश में वह आवद्ध होता है एवं बुद्धि के साथ अविशिष्ट होकर भी बुद्धिवृत्ति को अपने ऊपर आरोपित करता है। किन्तु विज्ञान भिक्षु का कहना है कि इस प्रकार विशिष्ट योग्यता मानने पर पुरुष की मुक्ति सम्भव नहीं होगी। क्योंकि मुक्तिकाल में भी पुरुष में यह योग्यता वर्तमान रहेगी। इस योग्यता से पुरुष को अलग नहीं किया जा सकता है। इसलिए पुरुष सदा बुद्धिगत सुख दुःख का भोग करता रहेगा। विज्ञान भिक्षु का कहना है कि ज्ञान काल में पुरुष के साथ बुद्धि का प्रकृत संयोग स्थापित होता है—यह मानना पड़ेगा। बुद्धि में पुरुष प्रतिविम्बपात के फलस्वरूप बुद्धि ही सभी विषयों की ज्ञाता है। क्योंकि, इच्छा और ज्ञान का सामानाधिकरण्य यहाँ रहता है, दूसरी बात यह है कि ज्ञान अन्य का प्रवृत्ति अन्य की—यह दोष होगा। वाचस्पति की इस उक्ति को भी नहीं मानते है।

इनका कथन है कि बुद्धि में ज्ञातृत्व स्वीकार करने पर सिद्धान्त का विरोध होगा, क्योंकि चेतन पुरुष में बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब ही भोग है, इससे अतिरिक्त बुद्धि में ही पुरुष का भोग स्वीकार करने पर पुरुष के अस्तित्व में ही प्रमाण का अभाव सिद्ध होगा। विम्ब रहने पर ही प्रतिबिम्ब पड़ेगा, अतः, प्रतिबिम्ब के द्वारा ही बिम्बरूप पुरुष का अस्तित्व प्रमाणित होगा—यह नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। बिम्ब का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करने पर बुद्धिस्थ चेतन की प्रतिबिम्बता सिद्ध होती है, प्रतिबिम्ब-भाव सिद्ध होने पर उसके प्रतियोगी के रूप में विम्ब सिद्ध होता है। अतः, ब्रिम्ब की सिद्धि से प्रतिबिम्ब की सिद्धि एवं प्रतिबिम्ब की सिद्धि से बिम्ब की सिद्धि, इस प्रकार विम्ब और प्रतिबिम्ब परस्पर आश्रयी हो गये, अतः अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। भिक्षु का कथन है कि ज्ञाता के रूप में ही पुरुष का अस्तित्व सिद्ध होता है, पुरुष का ज्ञेयत्व अन्य प्रकार से सम्भव न होने से बुद्धि में पुरुष के प्रतिबिम्ब की

कल्पना करनी होगी। अतः, अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं होता है। एक ही समय पुरुष के पक्ष में ज्ञाता और ज्ञेय होना सम्भव नहीं है। आत्मदर्शन के लिए बुद्धि में पुरुष के प्रतिबिम्ब की कल्पना आवश्यक है, बुद्धिवृत्ति के साक्षी के रूप में चेतन पुरुष का अस्तित्व प्रमाणित होता है—यह मानने पर साक्षिस्वरूप को ही ज्ञाता के रूप में मानना उचित है। बुद्धि और पुरुष दोनों को ज्ञाता मानने पर कल्पना गौरव होगा। बुद्धिवृत्ति ज्ञान और घट ज्ञान सामानाधिकरण्य रूप में ही अनुभूत होता है। इससे अतिरिक्त भोक्ता के रूप में पुरुष का पृथक् अस्तित्व प्रमाणित होता है। बुद्धि को भोक्ता के रूप में ग्रहण करने पर उक्त सिद्धान्त व्याहत होता है। बुद्धि में चिन्मय पुरुष के छाया रूप सम्बन्ध से बिम्बरूप पुरुष का ज्ञान होता है। अतः, पुरुष में बुद्धि के प्रतिबिम्ब की कल्पना का प्रयोजन नहीं है—यह भी सङ्गत नहीं है। क्योंकि, सूर्यादि का प्रतिबिम्ब रूप सम्बन्ध से जलादि और जलादिस्थित वस्तु प्रकाशित नहीं होती है, वरन् सूर्य की किरण से ही उनका प्रकाश होता है। इसलिए चिन्मय पुरुष में बुद्धिवृत्ति के प्रतिबिम्ब से सभी वस्तुओं का प्रकाश होने से विज्ञान भिक्षु पुरुष में बुद्धि के प्रतिबिम्ब की कल्पना करते हैं। इस सिद्धान्त में एक के ज्ञान में अन्य की प्रवृत्ति रूप दोष होता है, फलतः ज्ञान और प्रवृत्ति का वैयधिकरण्य प्रमाणित होता है। एक व्यक्ति शस्य उत्पन्न करता है और अन्य लोक में उसका भोग करता है, बुद्धि के सङ्कल्प से देह की क्रिया होती है, प्रकृत में इसी प्रकार संयोग विशेष आदि विशेष नियामक है।

अनुमानः—व्याप्यव्यापक भाव ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान अनुमान है। व्याप्य-व्यापक भाव अर्थ में वस्तु का स्वभाव निबन्धन नियत सम्बन्ध रहता है। जिस वस्तु का स्वभाव सिद्ध नियत सम्बन्ध है वह वस्तु उसकी व्याप्य होती है। वह्नि के साथ धूम का स्वाभाविक नियत सम्पर्क रहने के कारण धूम व्याप्य है और वह्नि व्यापक है। धूम जहाँ भी रहेगा वहाँ वह्नि रहेगी। अतः धूम का यह स्वभाव हो जाता है कि वह वह्नि का सम्बन्ध त्याग नहीं कर सकता है। यह नियत स्वभाव सम्बन्ध ज्ञान ही व्याप्यव्यापकभाव ज्ञान है। व्याप्य का ही नामान्तर हेतु या लिङ्ग है। व्यापक का अन्य नाम साध्य और साधन योग्य है। जहाँ अनुमान किया जाता है अर्थात् जिसमें साध्य की सिद्धि की जाती है-वह पक्ष कहा जाता है; अर्थात् साध्यका या प्रतिज्ञा का आधार या आश्रय कहा जाता है। जैसे-पर्वत, वह्निमान् है, धूमवान् होने से, यहाँ धूम व्याप्य है, वह्नि व्यापक है और जिस स्थान में वह्नि का धूम से अनुमान हो रहा है वह आश्रय पर्वत पक्ष है। व्याप्य वस्तु की पक्ष में स्थिति—यह ज्ञान पक्षधर्मता ज्ञान है, व्याप्यव्यापक-भाव और पक्ष-धर्मता-ज्ञान से उत्पन्न बुद्धिवृत्ति को अनुमान प्रमाण कहा जाता है। व्याप्यव्यापकभाव एवं पक्ष-धर्मता ज्ञान से पर्वत स्थित वह्नि नयन-गोचर

न होने पर ज्ञान गोचर होती है। वह्नि का ज्ञान या उपलब्धि ही अनुमिति है, इस उपलब्धिकी हेतु चित्तवृत्ति है वही अनुमान है।

योगभाष्य में अनुमान का लक्षण इस प्रकार कहा हैं। जिज्ञासित धर्म युक्त पक्ष अनुमेय है। इस अनुमेय का तुल्य जातीय में अनुवृत्त एवं भिन्न जातीय में व्यावृत्त सम्बन्ध अर्थात् हेतु से जो बुद्धिवृत्ति उत्पन्न होती है—वही अनुमान है।

"अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकम्, चैत्रवद्, विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः"। देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवद्, विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः। प्रकृत में चन्द्रतारक पक्ष हैं, गतिमत् चन्द्रतारकम् अनुमेय है, देशान्तरप्राप्तेः हेतु है। चैत्रवत् यह उदाहरण है। चैत्र के समान चन्द्रमा और तारा एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करते हैं, अतः वे गतिमान् है, विन्ध्य पर्वत एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन नहीं करता है, अतः वह गतिहीन है, अनुमान का स्वरूप निम्नलिखित है–चन्द्रादिकम्, गतिमत्, देशान्तर-प्राप्तेः, यद् यत् तादृशप्राप्तिमत् तत्तद् गतिमत् यथा चैत्रादि। यद् यद् गतिमन्न, तत् तत् तादृशप्राप्तिमदपि न, यथा विन्ध्यादि। अनुमान में वस्तु का सामान्यरूप से ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण में वस्तु का विशेष रूप से ज्ञान होता हैं, वस्तु का विशेषात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणलभ्य है। हेतु और साध्य का अविनाभाव-सम्बन्ध अनुमान से पूर्व अवश्य रहना चाहिए। योगसूत्र में इस विषय पर अधिक विवेचन नहीं किया गया है।[1]

शब्द-प्रमाण :—

शब्द-प्रमाण में योग और सांख्य में मतभेद हैं। जो वाक्य भ्रम, प्रमाद, संशय, प्रतारण बुद्धि आदि से रहित है उसके श्रवण के बाद प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में जो बुद्धिवृत्ति उत्पन्न होती है—वह शब्द प्रमाण है। अपौरुषेय वेद-वाक्य संशय से परे हैं—इसलिए वह शब्द प्रमाण है। वेदमूलक स्मृति, इतिहास और पुराण आदि का वाक्य भी शब्द प्रमाण हैं, आदिविद्वान् कपिल के मत मे कल्प के प्रारम्भ में पूर्वपूर्व कल्प में अधीत श्रुति का स्मरण सम्भव हैं, जैसे निद्रा से उठा हुआ व्यक्ति पूर्व दिन के किये हुए कार्यों का स्मरण करता है। अतः, कपिल का वाक्य प्रमाण है।

वाचस्पति के मत में आप्तता वाक्य में है, पुरुष में नहीं है, किन्तु योग-भाष्य के मत में आप्तता वाक्य में नहीं है, वरन् आप्तता पुरुष में है। भ्रम, प्रमाद, इन्द्रिय की अशक्ति परप्रातरणा आदि दोषों से शून्य पुरुष आप्त है। मनु आदि आप्तगणों से कथित स्मृति, वेदाङ्ग, तर्क इतिहास आदि भी शब्द प्रमाण है।

---

१. यो० भा० १।७।

"आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वाऽर्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते, मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात्"।[1]

विपर्ययः—प्रमाण यथार्थ-विषयक ज्ञान रहता है। चित्त एवं उसके कारण इन्द्रिय से भी दोष के फल स्वरूप अयथार्थ ज्ञान भी होता है—यही विपर्यय ज्ञान हैं, ज्ञेय विषय का जो वास्तविक रूप है विपर्यय ज्ञान उस विषय के आकार का नहीं होता है, प्रमाण का विषय यथाभूत रहता है, विपर्यय का विषय विपरीत रहता है। अर्थात् अयथारूप-विषय में प्रतिष्ठित रहता है। जैसे-दो चन्द्र का दर्शन रूप विपर्यय है, यह सद्विषय एक चन्द्रदर्शन रूप प्रमाण से बाधित होता है। विपर्यय भ्रान्तिज्ञान है। विपर्यय स्वरूप अविद्या पाँच प्रकार की है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश है। दूसरे शब्दों में तमः, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्ध-तामिस्र है। इन क्लेशों के मूल स्वरूप अनित्य, अशुचि दुःख आदि में विपरीत ज्ञान मूलक अविद्या को तम कहा जाता है। बुद्धिप्रतिबिम्बित चैतन्य का प्रकृति के सङ्ग के कारण अपने को प्रकृति से अभिन्न मानना अस्मिता ही मोह है, संयम आदि साधन शून्य होने पर भी सभी मेरे लिए सुखकर हो जाय इस प्रकार के राग को महामोह कहा जाता है। दुःख के अनेक कारणों के विद्यमान रहने पर भी "मुझे दुःख नहीं हो इस प्रकार के द्वेषमूलक विपर्यय भाव को तामिस्र कहा जाता है, शरीर के अनिल होने पर भी 'मेरी मृत्यु नहीं हो' 'मैं अमर रहूँ' इस प्रकार मरण-त्रास-रूप अभिनिवेश को तामिस्र कहा जाता है। इन पञ्चपर्वों में जायमान मिथ्या ज्ञान पुरुष को भवचक्र में आबद्ध करता है। पुरुष की स्वरूप प्रतिष्ठा के लिए विपर्यय ज्ञान का निरोध आवश्यक है। भ्रम ज्ञान को विपर्यय वृत्ति कहा जाता है, विपर्यय को दुःख का मूल मानकर निरोध के योग्य कहा हैं, वे ही क्लेशरूप विपर्यय है।

विकल्पः—शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। (११९)

जिस विषय की वास्तविक सत्ता नहीं है ऐसे पदार्थ का वाचक जो शब्द उस शब्द ज्ञान सहयोग से उत्पन्न वस्तु शून्य या वास्तव-विषय-शून्यवृत्ति विकल्प है। यह वृत्ति प्रमाण या विपर्यय के अन्तर्गत नहीं हैं। प्रमाण का विषय वास्तव रहता हैं और विकल्प विषयशून्य रहता है, किन्तु शब्दज्ञान-माहात्म्य-निबन्धन व्यवहार होता है। विपर्यय के विषय का व्यवहार नहीं होता है, यह मिथ्या है, यह जानने पर व्यवहार नहीं होता है, विकल्प विषयों का व्यवहार होता है, वैकल्पिक अवस्तु है—यह जानकर भी उसका व्यवहार किया जाता है, चिति ही पुरुष है, इसके बाद चैतन्य पुरुष का स्वरूप है—यहाँ भेदवचन अवास्तविक है, अतः

---

१. यो० भा० १।७।

वंकल्पिक है, उस वचन से जन्य जो ज्ञान है वह विकल्प ज्ञान भी प्रमाण ज्ञान से विनष्ट हो जाता है।

निद्रा :—अभाव प्रत्यालम्बन-वृत्तिर्निद्रा। (१।१०)।

जाग्रत स्वप्न के तिरोभाव का कारण तामस जडता विशेष रूप जो चित्त सत्त्व का आच्छादक है वही तमो-विषयक-वृत्ति अतिशय अस्फुट ज्ञानात्मकस्वप्न-हीना वृति निद्रा है। शरीर इन्द्रिय चित्त में जो जडता बोध है, वह निद्रावृत्ति है। सात्त्विकी निद्रा में "मैं सुख पूर्वक सोया" इत्यादि ज्ञान है। 'दुःखपूर्वक मैं सोया' यह राजसी निद्रा है। 'गाढ़ मूढ़ हो मैं सोया' यह सोकर उठने पर ज्ञान तामसी निद्रा में होता है। समाधि में अन्य प्रत्ययों के साथ इसका निरोध करना होता है।

चित्तवृत्तिः—सागर के वक्षःस्थल पर जायमान तरङ्गमाला के समान मानव के चित्त में निरन्तर जो स्पन्दन उपस्थित होता है, उस स्पन्दन को ही वृत्ति कहा जाता है। ये वृत्तियाँ अनन्त हैं, किन्तु इनको पाँच भाग में विभक्त किया है।

१. प्रमाण।
२. विपर्यय।
३. विकल्प।
४. निद्रा।
५. स्मृति।

स्मृतिः—अनुभूतविषयासम्प्रमोषः। (स्मृतिः। १।११

चित्त के द्वारा प्रमाण आदि वृत्तियों से अनुभूत विषयों का असम्प्रमोष अर्थात् जिस विषय का जिस परिमाण में अनुभूति हुई है' उसी परिमाण में ग्रहण करने वाली वृत्ति स्मृति है। जो अगृहीत या अननभूत नहीं है उन विषयों का ग्रहण करने वाली वृत्ति स्मृति है।

यह स्मृत्यात्मक वृत्ति "घट जानता हूँ" या रूप या घटादि विषय का स्मरण करता है यह है? इसके समाधान में चित्त दोनों का स्मरण करता है अर्थात् ग्राह्य और ग्रहण दोनों का स्मरण करता है, ग्राह्य और ग्रहण उभयाकार संस्कार का उत्पादन करता है, संस्कार अपने व्यञ्जक या उद्बोधक के द्वारा व्यक्त होता है। संस्कार केद्वारा कभी ग्राह्य ज्ञेय प्रधान स्मृति होती है और कभी ज्ञान प्रधान स्मृति होती है। इस प्रकार अनुभव अज्ञात विषय का होता है और स्मृति केवल ज्ञात विषय की होती है। पुरुष की स्वरूप प्रतिष्ठा के लिए इन वृत्तियों का निरोध आवश्यक है।

इस वृत्तियों के निरोध का साधन अभ्यास और वैराग्य है। "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (१।१२)

भूमिः—मिथ्याज्ञान रहित विवेक ख्याति हान का साधन है। विवेक ख्याति युक्त पुरुष की प्रज्ञा को क्रमशः उन्नति-शील सात भूमियों में विभक्त कहा है।

४ यो० सू०

"तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा। २।२७। प्रज्ञाकी सात भूमि निम्न लिखित हैं। इन सात भूमियों का द्विधा विभाग किया है। प्रथम वर्ग में चार भूमियाँ और द्वितीय वर्ग में तीन भूमियाँ हैं।

१ ज्ञानभूमि—शास्त्र और सज्जन के सम्पर्क से वैराग्य और अभ्यास स्वरूपा मुमुक्षुत्व स्थिति को प्रदान करने वाली प्रथम ज्ञानभूमि है—जिसको शुभेच्छा नाम से कहा जाता है।[1]

योग कारिका के अनुसार प्रथमा प्रान्त भूमिको प्राप्तकर सभी हेयपदार्थों का मैंने ज्ञान कर लिया है अब ज्ञेय शेष नहीं है—यह प्रथमा प्रान्तभूमि है। इससे ज्ञातव्यता की निवृत्ति होती है।

तद्विषयायाः प्रज्ञाया निवृत्तिरित्येतद्रूपाख्या। (भास्वती पृ. २३८)

द्वितीया विचारणा भूमिः—त्याग के योग्य अविद्या, काम, कर्म आदि प्रज्ञा के साक्षात्कार के द्वारा क्षीण हो गये हैं—यह द्वितीय है। अर्थात् त्याग योग्य विषय की की निवृत्ति प्रज्ञा की उपलब्धि वैराग्य के अभ्यास से करने की इच्छा होने से यह शुभेच्छा भी कही जाती है। शास्त्र, सज्जन के सम्पर्क से वैराग्य के अभ्यास की स्थिति पूर्वक सदाचार प्रवृत्ति को विचारणा कहते है।[2]

तृतीया तनुमानसीः—साङ्गभावना अविद्यादि के क्षय से उत्पन्न निरोधसमाधि रूप साधन से विशेष उत्थानके समय दुःखहान रूप भाविमोक्ष का मैंने साक्षात्कार कर लिया है, देहनाश के वाद ऐसा मुझे अवश्य ही प्राप्त होगा, इस रूपमें सजातीय साक्षात्कार एवं सजातीय समान्य साक्षात्कार के विनाश से परिचित असम्प्रज्ञात योग के दृष्टान्त से कैवल्य भी दृष्टप्राय रहता है। किन्तु निरोध समाधि में हान के साक्षात्कार की अनुपपत्ति है, क्योंकि वृत्ति का अभाव रहता है, अतः असम्प्रज्ञात कालीन दुखाभाव योग्य की अनुपलब्धि के अभाव से व्युत्थान में साक्षात्कार रहता है, यदि असम्प्रज्ञात में भी दुःख रहता तो उसकी अनुभूति होती, सोकर उठने के समान व्युत्थान में भी अनुभूत का स्मरण होता है। या निरोध समाधि से निष्पादन योग्य हान रूप मोक्ष त्यागगोचर का सम्प्रज्ञात से साक्षात्कार होता है। अर्थात् निरोध के ज्ञान से परगति विषय प्रज्ञा की समाप्ति हो जाती है।[3]

---

१. ज्ञानभूमिः शुभेच्छा या प्रथमा समुदाहृता। (म० उप० पृ० २९५)
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासरूपिणी।
प्रथमा भूमिकैषोक्ता मुमुक्षुत्वप्रदायिनी॥ (अ० उप० पृ० २)

२. (क) शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥ (म० उप० २९५)
(ख) क्षेतव्यताविषयायाः प्रज्ञाया या निवृत्तिस्तस्या उपलब्धिः।
(भा० पृ० २३८)

३. वा० पृ० ५३९, भा० ५३८–३९।

महोपनिषद् के अनुसार विचारणा और शुभेच्छा से इन्द्रियों की विषयों के प्रति राग की तनुता = कमी आती है, अतः यह तनुमानसी है।[1]

योगकारिका के अनुसार निरोध समाधि से हान के साक्षात्कार की उपलब्धि हो गई है, अतः यह साक्षात्कृत नाम की तृतीय भूमि है।[2] अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा सम्प्रज्ञात अवस्था में ही निरोध समाधिसाध्य हान का निश्चय कर लिया है।

चतुर्थी सत्त्वतापत्तिः—वासना विलयात्मक फल के निष्पन्न हो जाने से विवेक ख्याति रूप हान का उपाय सम्पन्न हो जाता है। क्योंकि अन्य कार्य सम्पादन के लिए कुछ शेष नहीं है—यह प्रयत्न निष्पाद्या विमुक्ति है। अर्थात् समाप्ति अर्थात् कर्तव्य समाप्ति होने से जीवमुक्ति भी यही है। यह पर-वैराग्य रूप चित्त नाश की आद्य भूमिका रूपा है। प्रान्तभूमि प्रज्ञा का विषय तीन भूमि होती है, चतुर्थी भूमि स्वयं ही होती है; उसके लिए किसी साधन की अपेक्षा नहीं होती है।

पञ्चमी असंसक्तिः—आनन्दरूपा मेरी सुद्धि निष्पन्न अर्थ हो गई है यह ज्ञान होता है, अर्थात् चरिताधिकारा है—बुद्धि का भोग और अपवर्ग दोनों समाप्त हो जाते हैं। यह परवैराग्य रूप चित्तनाश की प्रथम भूमिका है। अर्थात् चार अवस्थाओं के अभ्यास से असंसर्ग कलात्मिका रूढसत्त्व चमत्कार स्वरूपा=ईश्वरसत्त्व को प्राप्तकर उससे संसृष्ट हो चिन्मय साक्षी में स्थिति लाभ करती है, अतः यह असंसक्ति नामिका या बुद्धि चरिताधिकारा है।[3]

षष्ठी पदार्थ भावना = चित्तविमुक्ति प्रज्ञा—असंवेदनरूपा है।

बुद्धि सुख आदि गुण बुद्धि में प्रलयाभिमुख हो चित्त के साथ वे लीन हो जाते हैं। बुद्धि से मुझे प्रयोजन नहीं है, अतः संसार सुख, दुःख आदि सत्त्वादि-त्रिगुणात्मक प्रकृति में लीन होते हुए चित्त के साथ ही सर्वथा लय प्राप्त करते हैं। जैसे पर्वत शिखर समूह से गिरी हुई शिला रुकने में असमर्थ हो लय प्राप्त करती है। लिंग शरीर की विनश्यदवस्था यह षष्ठी भूमिका है। महोपनिषद् में कहा गया है कि पाँच भूमिकाओं के अभ्यास से अपने से अतिरिक्त में रति को विस्मृत होकर केवल स्वात्माराम के रूप में दृढ होती है, आन्तर और बाह्य पदार्थों से अतिरिक्त साक्षी के स्वरूप की प्राप्ति से स्वस्वरूप की अवगति = ज्ञान होना पदार्थ भावनात्मिका प्रज्ञा भूमि है।

सप्तमी भूमि तुर्यगा = तुर्यातीत पदावस्थाः—इस भूमि में चित्त गुण सम्बन्धों से रहित स्वभाव वाला होता है, इस भूमि में संस्कार सुख आदि की पुनः उत्पत्ति

---

१. विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेषु रक्तता।
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी ॥ पृ० २९५

२. साक्षात्कृतं परं हानम् पृ० २५।

३. दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गकला तु या।
रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्तासंसृतिनामिका ॥ (म० उप० पृ० २९५-९६)

नहीं होती है, क्योंकि पुरुषार्थ की समाप्ति होने से प्रयोजन ही नहीं रहता है। अतः बुद्धि आदि गुणों से रहित स्वरूप मात्र ज्योतिः अर्थात् चिज्ज्योतिः स्वरूप आत्यन्तिकलय स्वरूपा विदेह कैवल्य की चरम भूमिका है।

महोपनिषद् के अनुसार भेद की अनुपलब्धि से स्वभावैकनिष्ठ विदेह मुक्तावस्था है। यह अदृष्टा की स्वरूप स्थिति है।[1]

अन्नपूर्णोपनिषद् के अनुसार प्रथमा भूमि मुमुक्षुत्वप्रदायिनी, द्वितीया विचारणा, तृतीया साङ्ग भावना, चतुर्थी विलयिनी, पञ्चमी आनन्दरूपा, षष्ठी असंवेदनरूपा सप्तमी समता स्वच्छता सौम्या है।[2]

अन्तिम अवस्था के रूप में धर्ममेघ समाधि कही गई है। यह सम्प्रज्ञात की पराकाष्ठा है।

बौद्धों ने दशभूमिक सूत्र में निम्नलिखित दशमूल भूमियों का निर्देश किया है।

१-प्रमुदिता। २-विमला। ३-प्रभाकरी। ४-अर्चिष्मती। ५-सुदुर्जया। ६-अभिमुखी। ७-दूरङ्गमा। ८-अचला। ९-साधुमती। १०-धर्ममेघा।

योगमें भी धर्ममेघा का अन्तिम कोटि में निर्देश है। परिमाण के भेद से योग में अतिशय सूक्ष्म विवेचन है। किन्तु परिमाण आदि का भेद ग्रन्थ के अध्ययन से अवगत करें।

समाधि :—

सम्प्रज्ञात का चार भेद है-वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में बीज भी नष्ट हो जाते हैं।

चित्त के आलम्बन ध्येय विषय में स्वरूप साक्षात्कारात्मिका प्रज्ञा से पाञ्चभौतिक चतुर्भुज आदि ध्येय का साक्षात्कार करता है। अर्थात् विशेषेण = विशिष्ट रूप से तर्कणम् = अवधारण वितर्क है; उससे युक्त निरोध वितर्क है, सोलह स्थूल विकारों को विषय रूप में ग्रहण करने वाली प्रज्ञा जब चित्त में प्रतिष्ठित हो जाती है तब वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होती है।

विचार :—स्थूल के कारण सूक्ष्म तन्मात्र आदि विषयों को अवलम्बन कर चित्त की एकाग्रता अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध होता है, इससे उत्पन्न साक्षात्कार विचार सम्प्रज्ञात समाधि है।

आनन्द समाधिः—सत्त्व प्रधान अहङ्कार से इन्द्रियों की उत्पत्ति है, सत्त्व सुख है, अतः इन्द्रियवर्ग आनन्दात्मक हैं, अतः इन्द्रियात्मक चित्त आभोग साक्षात्कार सानन्द सम्प्रज्ञात समाधि हैं। वार्त्तिककार ने इसे अप्रमाणिक माना है। उनके अनुसार आनन्द को आलम्बन कर चित्त का विचारानुगत भूमि का आरोहण

---

१. महोपनि० पृ० २९६। २. पृ० २९६।

होने से सत्त्व का आधिक्य रहता है, अतः, ह्लादात्मक-सुख-विशेषात्मक साक्षात्कार होने से, यह आनन्द विषयक है, अतः आनन्द है, इससे अनुगत निरोध आनन्द सम्प्रज्ञात समाधि है। इस में अहं सुखी यह चित्तवृत्ति होती है।

अस्मिता समाधिः—बुद्धि के साथ पुरुष की अभिन्नताभ्रान्तिरूप अस्मिता को अवलम्बन कर इस विषय में चित्त की एकाग्रता अस्मितासम्प्रज्ञात समाधि है।

योगी की चित्तगत अवस्था का तारतम्य एवं उसके आलम्बन से विषय के उत्कर्ष और अपकर्ष के अनुसार पूर्वोक्त निरोध समाधि दो प्रकार की है। १. भवप्रत्यय, २. उपायप्रत्यय। प्रकृति, महत्, अहङ्कार आदि अनात्म वस्तु में आत्मा का ज्ञान कर उन विषयों में ही निरोध समाधि की साधना करते हैं, उनकी समाधि में अविद्या और भ्रान्तिज्ञान विद्यमान रहने से इस समाधि से कभी भी कैवल्य की प्राप्ति नहीं होती है, वरन् देवभाव की प्राप्ति होती है या प्रकृति आदि में प्रवेश पूर्वक बहुत दिनों तक विरतव्यापार होने से कैवल्य पद का ही अनुभव करते हैं। नियत समय की समाप्ति होने के बाद अपने प्राक्तन कर्मों के अनुसार पुनः संसार में प्रवेश करते हैं यह समाधि अविद्या पूर्वक होने से 'भवप्रत्यय' नाम से कही जाती है। असम्प्रज्ञात समाधि लाभ के प्रकृष्ट उपायभूत श्रद्धा, उत्साह, स्मृति और योगाङ्ग समाधि की सहायता से चित्तवृत्ति का निरोध सम्पादन करते है—इस समाधि को उपाय-प्रत्यय समाधि कहते है। क्योंकि, उनके द्वारा अवलम्बित साधन योगसिद्धि के प्रकृष्ट उपाय हैं।

भवप्रत्यय या उपायप्रत्य दोनों में ही चित्तवृत्ति का निरोध आवश्यक है। बहुत दिनों तक दृढ़तर अभ्यास से वृत्ति-निरोध की पूर्णता होने पर चित्तभूमि में किसी प्रकार की वृत्ति की उत्पत्ति नहीं होती है और पूर्ण असम्प्रज्ञात समाधि का आविर्भाव होता है।

इस असम्प्रज्ञात समाधि की पूर्णता दशा में द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थान रहता है, स्वरूप विद्यमान रहने से प्रकाश की प्राप्ति न होकर वृत्ति का सारूप्य प्राप्त होता है। चित्त में उस समय जिस प्रकार की वृत्ति होती है वह निर्विकार पुरुष की वृत्ति सभी के लिए प्रार्थनीय अति रमणीय अवस्था है। इस समय उन विषयों के समान आकार में वृत्तियों प्रतिष्ठित रहती है, गृहीत विषय का आकार ही प्रधान रूप से प्रतिभात होता है। प्रकाश स्वभाव पुरुष द्रष्टा होकर भी चित्तवृत्ति से अतिरिक्त किसी भी वस्तु का साक्षात्कार नहीं करता है। चित्तवृत्ति ही उसका एकमात्र दृश्य है। बाह्य या आन्तर विषय समुदाय जब तक चित्तवृत्ति का विषय नहीं होता है, तब तक किसी भी तरह पुरुष उन विषयों के ग्रहण में समर्थ नहीं होता है। चित्तवृत्ति का विषयीभूत वस्तु वृत्ति के साथ-साथ सन्निहित पुरुष में प्रतिबिम्बित होता है। फल स्वरूप मुग्ध पुरुष उत्पन्न वृत्ति से अलग अपने को न समझने के कारण तद्रूप ही समझता है। चित्तवृत्ति के साथ पुरुष के भेद की प्रतीति

का अभाव ही पुरुष के वृत्तिसारूप्य का फल है। बहुकाल तक चलने वाले दृढ़तर अभ्यास के बल पर जब चित्त की सभी वृत्तियाँ अर्थात् प्रकृति पुरुष का विवेक ख्याति = भेदज्ञान भी निरुद्ध हो जाता है—इसी स्थिति में असम्प्रज्ञात समाधि पूर्णरूप से सम्पन्न होती है। इस अवस्था में चिन्मय पुरुष अपने स्वरूप में स्वयं अवस्थान करता है—यही कैवल्य या मुक्ति है।

सम्प्रज्ञात समाधि और वाचस्पतिमिश्र

भामतीकार वाचस्पति मिश्र का एक वैशिष्ट्य है कि किसी भी दर्शन के सिद्धान्त निरूपण काल में वे अन्य दर्शन की भूमिका को पूर्व पक्ष के रूप में ही प्रकृत दर्शन में अवलम्बित करते हैं, यदि वस्तुतः सिद्धान्त का विरोध रहता है। किन्तु सिद्धान्त विरोध न होने पर उसके समन्वय की भावना करते हैं। योग दर्शन की व्याख्या में आचार्य मिश्र मोक्ष के हेतु निरूपण काल में अद्वैत वेदान्त की वासना से अपने को सर्वथा विमुक्त नहीं रख पाते हैं। इस अंश में तत्त्ववैशारदीकार की वेदान्त वासना कारण नहीं है; वरन् वास्तविकता का उद्घाटन ही कारण है। अतः इस प्रसङ्ग में महामहोपाध्याय डॉ० योगेन्द्रनाथ बागची जी का मन्तव्य प्रदर्शन ही अनेक संशयों का उच्छेदक होगा।

महामहोपाध्यायजी ने कहा है कि पातञ्जलसूत्रके प्रथम पाद के तृतीय सूत्र की भूमिका में कहा गया है कि "तदवस्थे चेतसि बुद्धिबोधात्मा पुरुषः किं स्वभाव इति"। (१-३) इस सूत्र की आलोचना करने पर यह अवगत होता है कि—मिथ्याज्ञानप्रयुक्त ही पुरुष बुद्धिबोध स्वरूप होता है। यह पुरुष का स्वभावसिद्ध स्वरूप नहीं है। पुरुष का स्वभावसिद्ध रूप स्वरूप प्रतिष्ठा है। पुरुष की स्वरूप-प्रतिष्ठता स्वभाव होने पर भी उसकी अस्वरूप-प्रतिष्ठता या बुद्धिबोधात्मकता अथवा दृश्यवर्ग का दर्शन मिथ्याज्ञान प्रयुक्त ही होता है, तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान के उच्छेद होने पर मुक्त पुरुष स्वस्थ हो जाता है। उस समय पुरुष का स्वभाव में बुद्धिबोधात्मकता नहीं रहती है। इस तरह यह सिद्ध है कि पुरुष के स्वभाव बुद्धिबोधात्मक नहीं है। दृश्य वर्ग का दर्शन और दृश्यवर्ग का स्वरूप-लाभ दोनों ही मिथ्याज्ञान प्रयुक्त होने से वे पारमार्थिक नहीं हो सकते हैं। इस लिए पातञ्जल दर्शन या सांख्यदर्शन के साथ वेदान्त दर्शन का कोई विरोध नहीं है। पातञ्जल दर्शन के व्यासभाष्य में कैवल्य अवस्था में भी सुख की सत्ता ही स्वीकार की गई है। यह सुख विषय-सम्बन्ध-जन्य, नहीं हो सकता है अतः अगत्या आत्मा की ही सुख स्वरूपता स्वीकार करनी होगी। पातञ्जल सूत्र के व्यासभाष्य में ३-१८ सूत्र में आवट्यजैगीषव्यसंवाद कहा गया है। इस संवाद में कहा गया है कि "भगवान् आवट्य ने योगचार्य भगवान् जैगीषव्य से जिज्ञासा की कि आपका बुद्धिसत्त्व किसी भी अवस्था में अभिभूत नहीं होता है। इस लिए

आपने विगत दश महासर्गों में नरक सम्बन्धी पक्षी की योनियों में उत्पतिलाभ कर जिन दुखों का अनुभव किया है एवं देव, मनुष्य आदि योनियों में पुनः-पुनः जन्मग्रहण कर जो जो अनुभव किया है उन सभी विगत जीवनों में सुख और दुःख में किसको अधिक उपलब्ध किया है? इसके उत्तर में भगवान् जेंगीषव्यने कहा है कि मेरा बुद्धिसत्त्व किसी भी अवस्था में अभिभूत नहीं होता है। अतः विगत दश महासर्गों में अनेक योनिओं में उत्पन्न होकर जो अनुभव किया वे सभी दुख ही अनुभूत हुए हैं अर्थात् उन योनियों में केवल दुःख का ही अनुभव किया है। इसके वाद आवट्य ने जैगीषव्य से जिज्ञासा की कि इस समय आपने प्रधान का वशित्व लाभ कर परम सन्तोष सुख का भोग कर रहे हैं। क्या इस सुख को भी आप दुःख समझते हैं? इसके उत्तर में जैगीषव्य ने कहा कि विषय सुख की अपेक्षा करके ही प्रधान वशित्वनिवन्धन सन्तोष सुख को श्रेष्ठ सुख कहा गया है, किन्तु कैवल्य सुख की अपेक्षा यह सन्तोष सुख भी दुःख ही है।[1] इस कथन से कैवल्य सुख की अनुत्तमता पौर सर्वश्रेष्ठता अवगत होती हैं। अतः जो व्यक्ति यह स्वीकार करते हैं कि पातञ्जल दर्शन में मोक्ष की सुखरूपता नहीं मानी गई है, उनको इस संवाद के अध्ययन से विषय स्पष्ट हो जायेगा। कि योग-दर्शन में मोक्ष सुखस्वरूप है, मोक्ष की सुखरूपता स्वीकार करने से ही वेदान्त दर्शन के साथ एक रूपता अर्थात् अविरोध प्रतिपादित होता हैं।

यही कारण है आचार्य वाचस्पति मिश्र ने प्रथम सूत्र के 'प्रद्योतयति' के व्याख्यान में ही कहा है कि द्योतन का अर्थ तत्त्वज्ञान होता है, यह तत्त्वज्ञान आगमसे या अनुमान से होने पर भी परोक्षात्मक होता है; प्रत्यक्षात्मक नहीं होता है। परोक्ष तत्त्वज्ञान से प्रत्यक्षात्मिका अर्थात् साक्षात्कारात्मिका अविद्या का नाश नहीं हो सकता है। अस्मिता आदि क्लेशों को अविद्यामूलक ही माना गया है। तत्त्वज्ञान अर्थात् विद्या अविद्याका उच्छेद रूप है, (इसके द्वारा अविद्या का अभाव रूपत्व प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं है।) अतः विद्याका उदय होने से अविद्या आदि क्लेशों का समुच्छेद अवश्यम्भावी है। इस के फलस्वरूप कर्म-रूपबन्धन अर्थात् धर्म और अधर्मरूप अपूर्व शिथिल हो जाते हैं। भाष्य में कर्म में अर्थात् अपूर्व के कार्य में कारणरूप कर्म का उपचरित प्रयोग है। आरम्भ में भी तत्त्वज्ञानख्यापन की इच्छा के अनन्तर योग की जिज्ञासा और ज्ञान विवक्षित है। फलतः तत्त्वज्ञान ही इस शास्त्रका फल है और तत्त्वज्ञानसे अविद्यास्तमयरूप मोक्ष होता है। दूसरे शब्दों में अविद्या का अस्त मोक्ष है और अविद्या वन्ध है।

---

१. भगवान् आवटच अवाच—यदिदमायुष्मतः प्रधानवशित्वमनुत्तमं च सन्तोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निक्षिप्तमिति? भगवान् जैगीषव्य उवाच—विषयसुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं सन्तोषसुखमुक्तम्, कैवल्यापेक्षया दुःखमेव।
(व्या० भा पृ० ३३४)

वार्त्तिककारने आरम्भ में ही एक प्रश्न उठाया है—सम्प्रज्ञातकाल में साक्षात्काररूपात्मक जो वृत्ति अर्थात् ज्ञान है; उसका भी परवैराग्य के द्वारा निरोध हो जाने पर असम्प्रज्ञात योग होता है; वृत्तिका निरोध चित्तकी वृत्तिसंस्कारशेष अवस्था है। अभाव के अधिकरण स्वरूप होने से चित्तकी अवस्था विशेष ही वृत्ति निरोध होता है। निरोध होता है इस अवस्था में इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी चित्तका अवस्थाविशेष का ही निरोध सिद्ध होता है। यह अवस्था संस्काररूप से समान परिणामधारा है। निरोध के समय में संस्कार का तारतम्यरूप ही सूत्र भाष्य के द्वारा विवक्षित है।

अनन्तर यह प्रश्न उठाया है कि वृत्तिनिरोध वृत्ति का अभावमात्र है या एकाग्रताविशेष है? यदि निरोध को अभावमात्र स्वीकार किया जाय तब निरोध संस्कार का जनक नहीं होगा और एकाग्रताविशेष निरोध को मानने पर समाधिरूप अङ्ग से और सम्प्रज्ञात से चित्तवृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात का भेद सिद्ध नहीं होगा।

जैसे द्रव्य के अवलोकन के लिए उल्का हाँथ में धारण करने वाला व्यक्ति द्रव्य का अवलोकन कर उल्काका परित्याग कर देता है, वैसे ही बोध से ज्ञान का अवलोकनकर बोध का परित्याग दें[1]। इसी प्रकार श्रुति और स्मृति के द्वारा असम्प्रज्ञात काल में सभी वृत्तिओं की शून्यता ही अभिहित हो रही है।

इसके आगे उन्होंने जिज्ञासा की है कि निरोधरूप सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योगों का क्या प्रयोजन है? योग के अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धिकेनाश होने से विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञानकी दीप्ति होती है। इस सूत्रसे योगाङ्ग की ही ज्ञान के प्रति हेतुता कही गई है। सम्प्रज्ञातयोग के समयमें ज्ञान की उत्पति ही शास्त्र से अवगत होती है, सम्प्रज्ञात को ज्ञान के प्रति हेतुता नहीं कही गई है। दूसरी बात यह है कि साध्य और साधन में पूर्व-पर भाव रहता है, एक काल में होने वाले दो वस्तुओं में हेतु-हेतुमद्भाव नहीं हो सकता है। अथ वा यह मान लिया जाय कि सम्प्रज्ञात समाधि विषयान्तर में संचरणरूप जो प्रतिबन्ध उसकी निवृत्तिरूप से ज्ञान के प्रति हेतु है। यह स्वीकार किया जा सकता है फिर भी असम्प्रज्ञात समाधि ज्ञान का हेतु नहीं हो सकती है, क्यों कि असम्प्रज्ञात समाधि ज्ञान से जन्य है। ज्ञान की उत्पत्ति के बाद मोक्ष के लिए अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती है, उसकी तभी तक यह स्थिति रहती है, जब तक मोक्ष नहीं होता है, अनन्तर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये) इत्यादि श्रुतियों के आधार पर किसी अन्य साधन की अपेक्षा के विना ही ज्ञान मोक्ष का साधन होता है, अतः अविद्या, काय कर्म आदि की निवृत्ति

---

१. उल्काहस्तो यथा कश्चिद् द्रव्यमालोक्य तांस्त्यजेत्।
बोधेन ज्ञानमालोक्य तथा बोधं परित्यजेत्॥ (वा० पृ० १०)

होने से अविद्या आदि संसार के कारण के न रहने से पुनः संसार की अनुपपत्ति होती है।

इसके प्रसङ्ग में वार्त्तिककारने कहा है—ज्ञान होने पर भी प्रारब्ध कर्म से देह-धारण की आवश्यकता रहती है, उस समय बाह्य और आभ्यन्तर वृत्तियों से जो दुःख नहीं होता है, यह इन दो योगों का ही फल है। इसी विषय की सूचना भाष्यकारने दी है—ये सभी वृत्तियाँ सुख, दुःख और मोहात्मिका हैं, अतः इन सभी वृत्तियों का निरोध करना चाहिए। ज्ञान जैसे कर्म के नाश का साधन है, वैसे ही योग भी कर्म नाश का साधन है। समाधि की निष्पत्ति हो जाने पर इसी जन्म में योगरूपी अग्नि से कर्मों का नाश कर योगी अविलम्ब ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। कर्मक्षय के द्वारा ज्ञान के ही समान असम्प्रज्ञात योग भी मोक्ष का साधन होता है। सभी संस्कारों के नाश करनेवाले असम्प्रज्ञात योग से प्रारब्ध कर्म भी ध्वस्त हो जाते हैं—यही इसमें ज्ञान से विशेष है। ज्ञान से प्रारब्ध कर्मों का नाश नहीं होता है। कारण, पूर्वोक्त श्रुति के द्वारा ज्ञान की प्रारब्ध कर्म के नाश के प्रति हेतुता नहीं है, यही अवगत होता है; साथ ही जीवन्मुक्त अवस्था की बोधिका श्रुति एवं स्मृति भी प्रारब्धकर्म के नाश के प्रति बाधिका है। इसलिए प्रारब्ध कर्म का भी कर्मविपाकोक्तप्रायश्चित्तादि के समान ही उसका शीघ्र मोचन करना ही योग का फल है। दोनों योगों से सभी संस्कारों का नाश हो जाने से भोग संस्काररूप सहकारी के अभाव से प्रारब्ध कर्म भी फल के भोग कराने के लिए अक्षम हो जाता है—यह भी योग का फल है। इसी लिए मोक्षधर्म में कहा है—सांख्य के समान ज्ञान नहीं है और योग के समान बल नहीं है। योग के बल से तात्पर्य यह है कि प्रारब्ध को भी अतिक्रमण कर स्वच्छता पूर्वक शीघ्र मोक्ष की हेतुता योग में है। दूसरी बात यह भी है कि वृत्तिनिरोधात्मक योग ही दुःखनिवृत्त्यात्मक मोक्ष में साक्षात् हेतु है। पुरुष में दुःख स्वाभाविक नहीं है, वरन् औपाधिक है। उपाधि के कारण ही दुःख है। जो औपाधिक वस्तु रहती है उसकी निवृत्ति में उपाधि की निवृत्ति ही चरम कारण है, अतः ज्ञान से योग अन्यथा सिद्ध नहीं है। ज्ञान, वैराग्य, कर्मक्षय आदि वृत्तिनिरोधरूप चरमकारण को द्वार करके ही दुःख के अत्यन्त उच्छेद का यह हेतु है। वृत्ति का अत्यन्तनिरोध चरम असम्प्रज्ञात समाधि में होता है। जिसमें संस्कार का अत्यन्त क्षय होने से चित्त का विलयन होता है[1] और तब मोक्ष होता है। इस प्रकार द्वारद्वारिभाव से भी ज्ञान के समान ही सम्प्रज्ञात योगकी भी मोक्ष के प्रति कारणता सिद्ध होती है और असम्प्रज्ञात योग की साक्षात् ही मोक्ष के प्रति हेतुता है, यह "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" इस सूत्र से सूत्रकारने स्वयं ही कहा है। अन्यथाभाव को छोड़कर स्वरूप

---

१. अध्यात्मयोगाधिगमेन……प्रतिज्ञातवान्। (वा० पृ० २–३)

व्यवस्थिति ही मुक्ति है इत्यादि वाक्यों के द्वारा आत्यन्तिक स्वरूप में अवस्थान ही मोक्ष है। इनके मतमें ज्ञान से मुक्ति नही मानी गई है वरन् असम्प्रज्ञात योग ही मोक्ष का साक्षात् कारण है। मुक्ति सुखरूप नहीं है; वरन् दुःख का अत्यन्त उच्छेद ही है। व्याख्यान के आरम्भ में ही वार्त्तिककारने अनेक उद्धरणों के द्वारा इस मत का प्रतिपादन एवं समर्थन किया है—अध्यात्मयोग के ज्ञान से देव का मनन कर धीर व्यक्ति हर्ष और शोक परित्याग करते हैं। क्योंकि विषय रहित चित्त ही अभीष्ट है, अतः, मोक्ष की कामना रखने वाले व्यक्ति नित्य चित्त को निर्विषय बनायें। अतः तब तक निरोध करना चाहिए, जब तक चित्त में विषयादि का नाश नहीं होता है, यही ज्ञान और ध्यान है, अन्य सभी ग्रन्थ के विस्तार के लिए है, इन श्रुतियों का उद्धार देकर अपने मत का सार सङ्कलन किया है। पुनः इसी अर्थ का स्मृतिओं के द्वारा भी प्रतिपादन किया हैं—योग से मुक्ति होती है तथा सम्यग्ज्ञान से योग पूजित होता है। योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है और ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है इत्यादि स्मृतियों के द्वारा योग को मोक्ष का कारण कहा गया है। ऐसी स्थिति में यह जिज्ञासा स्वाभाविक ही है कि मोक्ष का क्या स्वरूप है? इसका क्या उपाय है? किस द्वार से ज्ञान और योग मोक्ष में कारण हैं? ये विषय मुमुक्षुओं के लिए जिज्ञासित होते हैं। ब्रह्ममीमांसा, सांख्य आदि में ज्ञान का ही विशेषरूप से विचार किया गया है और योग से ज्ञान का मात्र साधन रूप में संक्षेप में विचार किया गया है, किन्तु ज्ञानजन्य योग को संक्षेप रूप में भी नहीं कहा गया है, अतः दोनों योगों का विस्तार पूर्वक व्याख्यान प्रकृत में किया जा रहा है।

इस उपक्रम में ही स्पष्ट हो गया है कि एक योग ज्ञान साधन है और द्वितीय योग ज्ञान से साध्य है एवं साक्षात् मुक्ति का जनक भी है।

समाधि का छ भेद :—

१. ध्यानयोग समाधि।
२. नादयोग समाधि।
३. रसानन्दयोग समाधि।
४. लयसिद्धियोग समाधि।
५. भक्तियोग समाधि।
६. राजयोग समाधि।

ध्यानयोग समाधिः—योगी शाम्भवी मुद्रा से आत्मा का प्रत्यक्ष करता है, बिन्दु को ब्रह्ममय समझकर उसके मध्य में मन को निवेश करता है। उसके बाद 'ख' अर्थात् ब्रह्म ('ख' ब्रह्मेतिः छा० उ० म० ४।१०।४) मध्य में आत्मा को और आत्मा के मध्य में ब्रह्म का दर्शन करता है, इस स्थिति में आत्मा का ब्रह्ममय दर्शन करने के बाद किसी प्रकार की बाधा नहीं रहती है, योगी सदानन्दमय हो समाधिस्थ हो जाता है।[1]

---

१. शाम्भवीं मुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत्।
बिन्दुब्रह्ममयं दृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजयेत्॥

नादयोग समाधिः—खेचरी मुद्रा की साधना से रसना = जिह्वा के ऊर्ध्वगत होने पर समाधिसिद्धि होने से साधारण क्रिया का प्रयोजन नहीं रहता है।[1]

रसानन्दयोग समाधिः—धीरे-धीरे वायु को पूर्ण कर भ्रामरी कुम्भक करने के बाद धीरे-धीरे वायु का रेचन करना होता है, इस स्थिति में भ्रमर गुञ्जन होता है, अन्दर में भ्रमर का गुञ्जन सुनकर उसमें मनको निविष्ट करने पर समाधि होती है एवं सोऽहं ज्ञान एवं परमानन्द लाभ होता है।[2]

लयसिद्धियोग समाधि—योगी योनिमुद्रा का अवलम्बन कर स्वयं शक्तिमय होता है एवं परमात्मा के साथ श्रृङ्गार रसमय विहार करता है, इस प्रकार आनन्द-मय ब्रह्म के साथ ऐक्य अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान होता है।[3]

भक्तियोग समाधिः—साधक अपने हृदय में भक्ति-प्रवण हो परमानन्दमय इष्टदेवता के स्वरूप का ध्यान करे, ध्यान के फलस्वरूप रोमाञ्च, अश्रुपात आदि होता है और क्रमशः समाधि एवं मनोन्मनी अवस्था को प्राप्त करता है।[4]

राजयोग समाधिः—मनोमूर्च्छा नामक कुम्भक कर मन को आत्मा में संयुक्त करे, परमात्म संयोग होने से ही यह समाधि होती है।[5]

खमध्ये कुरु आत्मानमात्ममध्ये च खं कुरु।
आत्मानं खमयं दृष्ट्वा न किञ्चिदपि बाधते॥
सदानन्दमयो भूत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः॥ (घे० सं० ७।७-८)

१. साधनात् खेचरीमुद्रा रसोर्ध्वगता यदा।
तदा समाधिसिद्धिः स्याद्धित्वा साधारणक्रियाम्॥ (घे० सं० ७।६)

२. अनिलं मन्दवेगेन भ्रामरी कुम्भकं चरेत्।
मन्दं मन्दं चरेद् वायुं भृङ्गनादः ततो भवेत्॥
अन्तःस्थं भ्रामरीनादं श्रुत्वा तत्र मनो नयेत्।
समाधिर्जायते तत्र आनन्दः सोऽहमित्यतः॥ (घे० सं० ७।१०)

३. योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
सुश्रृङ्गाररसेनैव विहरेत्परमात्मनि॥
आनन्दमयो भूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत्।
अहं ब्रह्मेति चाद्वैतं समाधिस्तेन जायते॥ (घे० सं० ८।१२-१३)

४. स्वकीयहृदये ध्यायेदिष्टदेवस्वरूपकम्।
चिन्तयेद् भक्तियोगेन परमाह्लादपूर्वकम्॥
आनन्दाश्रुपुलकेन दशा भावः प्रजायते।
समाधिः सम्भवेत्तेन सम्भवेच्च मनोन्मनी॥ (घे० सं० ८।१४।१५)

५. मनोमूर्च्छां समासाद्य मन आत्मनि योजयेत्।
परात्मनः समायोगात् समाधिं समवाप्नुयात्॥ (घे० सं० १।१६)

राजयोग समाधि ही योगसूत्र की सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि है। वेदान्त की सविकल्प और निर्विकल्प समाधि भी यही है। सविकल्प और सम्प्रज्ञात में ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय ये तीन पदार्थ भासमान होते हैं और निर्विकल्प या असम्प्रज्ञात में तीनों का लय होकर स्वस्वरूप में अवस्थिति होती है। वाराहोपनिषद् के भाष्य में ब्रह्मयोगी ने इस योग को लय-योग का साधन कहा है। क्षेत्र और परमात्मा का ऐक्य या स्वरूपावस्थान ही लययोग है।

योग की प्राचीनताः—महेञ्जोदाडो के ध्वंसावशेष में एक योगी की मूर्ति है। (Plxeviii) अनेकत्र योगभङ्गी में दण्डायमान देवमूर्तियाँ हैं। (Pls, exvi 29 and exviii, ii) एक भङ्गी में योगी की कायोत्सर्ग भङ्गी उपलब्ध है। वायु-पुराण में वर्णित पाशुपातयोग मुद्रा से इसकी समता है।[1]

ऋग्वेद में वायुरूपता की प्राप्ति आकाशपथ से गमन, समस्त विश्व के सभी रूप्य पदार्थों को अपने तेज से देखता रहता है। अतीन्द्रिय पदार्थदर्शी इस व्यक्ति का आहार वायु रहता है, यह वायु के मित्र और द्योतमान वायु के द्वारा ये वायु रूप होते हैं। अतीन्द्रिय पदार्थदर्शी कपिलवर्ण का मलिनवस्त्र धारण करता है तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवतास्वरुप में प्रवेश करता है। यहाँ मुनयः यह बहुवचन का प्रयोग होने से अनेक मुनि हैं।

"मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वास्याणुध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥" ([2]१०।१३६।२)

उपनिषदों में भी इसकी परिपूर्ण चर्चा उपलब्ध है। श्वेताश्वतर (२।८, २।९) एवं कठोपनिषद् का (२।३।१०, २।३।११, १।३।६) द्रष्टव्य है।

तन्त्र आदि में भी इसका विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

बुद्ध के समय में योगसाधना पूर्ण रूप से प्रचलित थी, वे स्वयं योगसाधना करते थे। अपने समय के योगियों की वे निन्दा करते थें किन्तु अपने शिष्यों को योगसाधना का उपदेश देते थे। बौद्धधर्म की प्रतिष्ठा में योगदर्शन का प्रचुर प्रभाव सुव्यक्त है।

आज तो असंख्य योगी एवं असंख्य योग केन्द्र है। वास्तविक योगी कितने हैं-यह भगवान् ही जानता है।

तन्त्र में कुण्डलिनी जागरण के लिए एकमात्र योग ही सहायक है।

भारतीय दर्शन में योग :—

वैदिक ऋचाओं के अनेक स्थलों में योग का विश्लेषण उपलब्ध है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अट्ठारहवे सूक्त में लिखा है कि कोई भी क्रियायें विना योग के सिद्ध नहीं होती हैं। "यस्मादृते न सिध्यन्ति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति।" (ऋ० १।१८।७) इसी की छाया गीता के "योगः कर्मसु कौशलम्" पद्य में उपलब्ध है।

---

1. R. I. P. 301–334.
२. ऋ० १०।१३६।४, ५, ७।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' यो० सू० १।१७ इस सूत्र का मूलाधार "स धा नो योग आ भुवत् स राये स पुरन्ध्याम्। गमद् वाजेभिरा स नः"। (ऋ० १।५।४, साम ३०।१।२।१०३, अथर्ववेद २०।६९।१) में मिलता है (ईश्वर की कृपा से समाधि की प्राप्ति होती है)। मुझे उसका सन्निधान प्राप्त हो। इतना ही नहीं ईश्वर प्रणिधान के लिए वेद में अनेक मन्त्र उपलब्ध हैं प्रत्येक समाधि में ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र का आह्वान करे। "योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहेसवाय इन्द्र भूतये"। (ऋ० १।३०।७) इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि संहिता भाग से चलती हुई योग धारा ने उपनिषद् युग में पुष्पित-पल्लवित होकर अनेक योगों के आधार पर सूक्ष्मतम समाधि से स्वरूप प्रतिष्ठा का मार्ग प्रशस्त किया।

आत्म ज्योतिः के आनन्दमयकोष, विज्ञानमयकोष, मनोमयकोष, प्राणमयकोष, और अन्नमयकोष आवरण के रूप में है इन कोषों के कारण ही प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वों के प्रतिबिम्बन से राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि का आत्मा में आरोप होता है।

योग सभी दर्शनों के साथ अक्षुण्ण रूप से उपलब्ध होता है। यही कारण है कि सामान्य दार्शनिक मान्यताओं के खण्डन होने पर भी योग की मान्यतायें सर्वत्र स्वीकृत हैं।

आस्तिक दर्शनों के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वेदमूलक होने से वहाँ विरोध की सम्भावना ही नहीं है, नास्तिक दर्शनों के साथ भी योग का अनिवार्य सम्बन्ध है।

जैन दर्शन में कर्मपुद्गल को नष्ट किये विना सर्वज्ञता नहीं आती है। कषाय ही बन्धन के कारण हैं, नवीन कर्मपुद्गलों के आश्रव के अवरोध के विना कर्मपुद्गलों का क्षय सम्भव नहीं है। ज्ञान ही इनका प्रधान कारण है, अतः, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र इन तीन रत्नों का अनुष्ठान आवश्यक है। सम्यग्दर्शन आत्मा के स्वरूप प्रतिष्ठा का प्रतीक है। इसके द्वारा जीव, अजीव आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का यथार्थ ज्ञान होता है।

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"। (मोक्षशास्त्र १।१)

संयम और तप के विना आश्रव का निरोध और सञ्चित कर्मों का विनाश नहीं हो सकता है और इनके विनाश के विना आत्मा की शुद्ध अवस्था नहीं आ सकती है।

"संजमएण भन्ते, जीवे किं जणयइ? संजमएण अण्णहएत्तं जणयइ। तवेणं भन्ते, जीवे किं जणयइ? तवेणं जणयइ। (उत्तराध्ययन, २९, २६-२७)

बौद्ध दर्शन में सम्यग्दर्शन के ही अर्थ में सम्यग्दृष्टि (सम्मादिति) मानी गई है[1] जागतिक दुःखों की प्रकृति को जानकर सत्कायदृष्टि आदि से विभूति होती है। बौद्ध दृष्टि से यह सम्यग्दृष्टि ही प्रज्ञा है। प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रज्ञा की भूमि है। क्रमशः अनित्य दुःख और अनात्म ज्ञान से विपस्सना आती है और जो प्रज्ञा का मार्ग और लोकोत्तर समाधि है। इसके द्वारा दिव्यचक्षु,

१. बुद्धवचन पृ० २१

दिव्यश्रोत्र, चेतःपर्यायज्ञान, पूर्वानुस्मृतिज्ञान, च्युत्युत्पादज्ञान और आश्रवक्षय-ज्ञानरूप षडभिज्ञा उत्पन्न होती है। शब्दान्तर से जैनदर्शन में भी इन्हें स्वीकार किया गया है। मनःपर्यायज्ञान चेतः पर्याय ज्ञान है। यह पूर्वानुस्मृति और केवलज्ञान के अन्तर्गत है।

किन्तु सम्यग्ज्ञान का सम्यक् चरित्र के विना रहना सर्वथा निष्प्रयोजन है। सम्यक् चरित्र महाव्रत और अणुव्रत के भेद से दो प्रकार का है। अहिंसा, सत्य आदि बारह व्रत इसके लिए कहे गये हैं। इनसे अतिरिक्त पञ्च समितियों का पालन, इन्द्रियों पर विजय प्राप्ति समता आदि षडावश्यकों का अनुष्ठान करना है। इन सभी अनुष्ठानों के बाद समाधि के आलम्बन के विना परमपद अर्थात् स्वरूप प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है।

सर्वार्थतैकाग्रतपः समाधिस्तु क्षयोदयौ।
तुल्यावेकाग्रता शान्तोदितौ च प्रत्ययाविह॥

कर्मविजय, भावनोपलब्धि, ध्यानसिद्धि, (अ. रा. को. ख. ७पृ. ४) समत्व प्राप्ति के साथ सर्वज्ञत्व प्राप्ति सोपान क्रम में होती है। सम्यग्दृष्टि ही योग का परम चरम लक्ष्य है।

बौद्ध दर्शन में भी शील समाधि एवं प्रज्ञा का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। कुशलचित्त की एकाग्रता ही समाधि है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रज्ञा पारमिता की प्राप्ति अपेक्षित है और इसके लिए दश भूमियों को पार करना पड़ता है इस प्रकार जैन और 'बौद्ध साधना शुद्ध योग साधना है'—यह कहना अनुचित नहीं है। जैन के समान ही अष्टाङ्ग मार्ग में प्रज्ञा, शील और समाधि ये तीन रत्नों को यहाँ भी माना गया है।

एकालम्बन रूप एकाग्रता ही बौद्धों की समाधि है। यह एकाग्रता अभिन्ना-लम्बन स्वरूपा है। यह अभिन्न आलम्बन स्वरूप प्रतिष्ठा से अतिरक्त नहीं हो सकती है।

प्रसादपूर्ण चित्त की समाधि ही सफल होती है।

"सुखिनो चित्तं समाधियतीति वचनतो पन सुखमस्स पदट्ठानं[1]।

बुद्ध मार्ग की दिशा में अविच्छिन्नरूप से चित्त की एक आलम्बन के आश्रयण की मनोवृत्ति जब होती है तब समाधि होती है[2]। योग एवं गीता की दृष्टि से विश्लेषण करने से इस अर्थ का स्फुट परिष्कार मिलता है। अभिधर्मकोषभाष्य के अनुसार स्वरूप प्रतिष्ठान से भिन्न समाधि नहीं हो सकती है। एकाग्रता का विवरण देते हुए लिखा है कि "एकालम्बन ही एकाग्रता है। ऐसी स्थिति में एकालम्बन चित्त ही समाधि है चित्त का धर्मान्तर समाधि नहीं है। चित्त ही समाधि नहीं है, जिससे एकाग्रता होती है वह धर्म समाधि है[3]। स्फुटार्था में भी

---

१. विशुद्धि मग्गों पृ० १८१।

२. अविच्छिन्नरूपेण चित्तस्यैकालम्बेन प्रवृत्तिः समाधिः। अभि० को० पृ० ३०।

३. केयमेकाग्रता नाम ? एकालम्बना। एवं तर्हि चित्तान्येवैकालम्बनानि समाधिर्न चैतसिकं धर्मान्तरमिति प्राप्नोति। न चित्तान्येव समाधिः। येन तु तान्येकाग्राणि वर्तते स धर्मः समाधिः। अभि० भा० पृ० ४३२

इसी अर्थ को कहा है। फलतः योग और समाधि अभिन्न है और द्रष्टा के स्वरूप की प्रतिष्ठा है। अन्य धर्म की प्राप्ति सिद्धान्त विरोध के कारण सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार योगप्रस्थान का सर्वत्र समादर है। भारतीय साधना में योग के साहाय्य की प्राप्ति के विना साध्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती है। चित्त की एकाग्रता ही बहिरंग साधन प्रणाली से विमुक्त कर अन्तरङ्ग एकाग्रता का सम्पादन कर बोधको विषम विश्व का उन्मूलन कर समत्व की भूमि पर अवस्थित कराती है।

यह सत्य है कि अनादि अविधा के कारण मानव मन स्वभावतः बहिर्मुख रहता है। इसको अन्तर्मुख करने के लिए सक्रिय चेष्टा ही प्रथम योग है। यह योग एकग्रता के द्वारा बहिरङ्ग प्रवृत्तियों से निरुद्ध होता है और अन्त में स्वसत्ता में अवबुद्ध होता है। अवबुद्ध प्रकाश से समग्र विश्व उद्भासित होता है और इससे लोक के प्रति करुणा और कल्याण कामना उद्बुद्ध होती है, अहंशून्यता अस्मिता में परिणत होती है। अस्मिता भूमिमें ज्योतिः स्वरूप प्रज्ञा का प्रोल्लास होता है। विभूतियों की दीप्ति में भूतों के जय से कायसम्यत् समृद्ध होता है। मधुमती भूमिका के साथ भूमा साक्षात्कार तथा भोग वितृष्णा रूप विवेक ख्याति होती है।

भारतीय सभी साधानाओं का मूल-लक्ष्य भेद में अभेद दर्शन ही है। एक तत्त्व में अवस्थान करना ज्ञान विचार का प्रधान कार्य है। वेद से लेकर सभी दर्शनों में अध्यात्म और अधिभूत Subjeet and objeet रूप द्वैतदर्शन का एकतत्त्व में ले जाने का मार्ग दर्शन ही है। बुद्धि तत्त्व की द्विधा अभिव्यक्ति Moral and natural laws' नैतिक और प्राकृतिक रूप में होती है। किन्तु इन की उपसंहृति आत्मा के साक्षात्कार से होती है। अद्वयपुरुषोत्तम की यही भूमिका है। प्रकृति भूमि भावमयी भूमि में प्रकाश लाभ करती है। भावभूमि ज्ञानभूमिक्रम में पुरुषरूप या चेतन स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है।

बाह्य जगत् में धर्म का आधान बुद्धि के द्वारा होता है। .intellect अर्थात् बुद्धि ही इस दिशा से कर्तव्य का ज्ञान कराती है। कर्तव्य में निहित गुप्त प्रेम निर्झरिणी की दिशा hidden spring of love उद्भूत होती है, moral conc-iousness अर्थात् कर्तव्य विवेक का विकाश प्रेम में परिणत होता है यह प्रेम ही प्रज्ञा का स्वरूप अवलम्बन करता है। इस विचार और प्रज्ञा intellect and intuition का मूल अद्वय पुरुष रूप स्वरूप प्रतिष्ठा है।

ज्ञान की प्रथम किरण दृष्टिपथ में आने पर मन में बोध होता है कि यह बाहर की है और इसी से वस्तु परिचालित है। किन्तु दैहिक क्रिया की अवगति के साथ यह विश्वास होता है—यह शक्ति अन्तर्निहित ही है। Immanent Dynamices की धारणा अर्थात् conceptien उद्भूत होता है। स्वाभाविक गति का अनुसन्धान होते ही सर्वानुस्यूत चेतनशक्ति का सन्धान होता है। इसी क्रम में intelligent direction upon an end का बोध होता है। विश्व का ज्ञानचालित के रूप में अनुभूति होती है और अन्त में ज्ञान भी चेष्टाशून्य स्वतः उद्भासित सहज प्रकाश रूप में अवगत स्वरूप प्रतिष्ठित होता है।

प्रत्येक भूमि में रसास्वादावस्था रहती है। एक भूमि अन्य भूमि में जाने की सोपान परम्परा है। आनन्दाकार में परिणत जीव को सीमा से दूर सर्वभाव में

उपस्थापित करता है सङ्कीर्णता की भूमि से छुड़ाकर अर्थात् Particularity के region से अलगकर universality भूमा के राज्य में प्रतिष्ठित करता है। कर्म भक्ति या ज्ञान इस सत्त्व समाधि में आकर विघ्न-द्वन्द्व-शून्य हो समता और स्वच्छन्दता सुख की भूमि में रहता है। समाधि भक्ति, ज्ञान और कर्म सभी में एक रूप ही रहती है। समाधि mere trance state शुद्ध मूर्च्छाभाव नहीं है यह absorption into highest concentrated thought गम्भीर अनुभूति है। इसे परमविचार, परमप्रेम, परमज्ञान का समष्टिभूत फल कह सकते हैं। यह वही भूमि है जहाँ धारण thorough understanding and firm fixity of attention ध्यान deep meditation एवं समाधि absorbed attention इनका पुञ्जीभूत होता है। यह श्रुतिगृहीत ज्ञान को प्रीतिगृहीत ज्ञान के रूप में परिपूर्णता का लाभ करता है। इस समाधि के फल स्वरूप ही प्रज्ञा intuition का उदय होता है यह भावना विशेष developed reason है, मन की सभी सत्यशक्ति इससे नियोजित होती है। यही कारण है कि यह मानव को शुद्ध विचार Pure thought के राज्य में, सत्यज्ञान pure ideation के राज्य में शुद्धभावना की भूमि में अवस्थित रखता है। योग की इस समाधि में कर्म ज्ञान और भक्ति भी अवसान लाभ कर योग संज्ञा प्राप्त करते है। पातञ्जल की दृष्टि में आकार शून्य स्वरूप मात्र निर्भास अवस्था है। इस स्थिति में ज्ञान को जीवकी स्मृति या संस्कार contribute आरोपित होकर अन्यथा अनुरञ्जित नहीं कर पाते है। सर्वथा स्वरूप अवस्थिति शब्दान्तर से ब्रह्मार्पण या ब्रह्महवि है। इस अवस्था में जीव न तो इन्द्रियार्थों में न शरीरसुखावह कर्मों में प्रवृत्त होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते तव निष्काय निःस्पृह विजितेन्द्रिय, अध्यात्म चेता के रूप में समत्व की भूमि में अवस्थित लोककल्याण भावना से प्रवृत्ति करता है इसे कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्णा में प्रवेश कराकर ब्रह्मरन्ध्र-भेदन भी कह सकते है। कुण्डलिनी तेजोरूप है। यह अद्वैत भाव की प्राप्ति है। अतः अद्वय प्राप्ति समत्व की भूमि पर अवस्थिति ही योग है।

इस दुर्लभ ग्रन्थ के प्रकाशन में चौखम्बा संस्कृत संस्थान के अधिकारी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के उद्धार के लिए निवद्ध परिकर श्रीमान् मोहनदास गुप्त एवं उनके पुत्र राजेन्द्रकुमार का मैं सतत अभिवृद्धि की कल्पना करता हूँ। जिनके उत्साह और निष्काम चेष्टा के द्वारा यह ग्रन्थ सुलभ एवं उनके परम प्रेम पाश में आबद्ध मेरे द्वारा इस भूमिका का लेखन सम्भव हो सका। मैं इनका आभार वहन करता हूँ।

प्रेस के संचालन में दत्त श्री व्रजरतनदासगुप्त की पुनः पुनः संशोधन करने पर भी उद्वेगशून्यता देखकर उनके धैर्य की प्रशंसा करना मेरा कर्तव्य होता है।

मेरे प्रमाद को मुझे ही समर्पित करते हुए विद्वज्जन ग्राह्य अंश का रसास्वादन कर मेरे श्रम को सफल करें।

३० नवम्बर १९८२ विद्वज्जनचरणचञ्चरीक

महाप्रभु गोस्वामी

पातञ्जलयोगसूत्रम्

भावप्रकाशिकाख्यभाषाव्याख्यासमेतम्

प्रथमः समाधिपादः

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

शास्त्र की परिसमाप्तिपर्यन्त योग का अनुशासन है। प्रकृत में अथ शब्द अधिकार एवं मङ्गल अर्थ का वाचक है। लक्षण, भेद, उपाय, और प्रयोजन के प्रदर्शन के द्वारा योगका अनुशासन = व्याख्यान किया जा रहा है।

इस शास्त्र के अभिधेय, साधन और फल से युक्त योग है, क्योंकि योग ही इस शास्त्र का प्रतिपाद्य है। योग का प्रतिपादन फल है, इस प्रतिपादन का फल कैवल्य है। प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव शास्त्र और अभिधेय का सम्बन्ध है। अर्थात् अभिधेय योग और उसके फल के साथ साध्य-साधन-भाव सम्बन्ध है। योग को जानने की इच्छा रखने वाला अधिकारी है। जिससे शासन किया जाय इस व्युत्पत्ति से शासन शास्त्र है, अनु = पश्चात्, शासन = अनुशासन है, अर्थात् हिरण्यगर्भ आदि शिष्टों से उपदिष्ट योग का विवेचनपूर्वक बोधन अनुशासन है। योगस्य अनुशासनम् = योगानुशासनम् ॥ १ ॥

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

निर्मल सत्त्वगुण का परिमाणस्वरूप चित्त अर्थात् अन्तःकरण की वृत्तियों का निरोध अर्थात् उनकी बाह्यमुखता के विच्छेद से अन्तर्मुख होने से अपने कारण में लय को योग कहते हैं। अर्थात् राजस और तामस वृत्तियों का निरोध ही योग है, अतः सम्प्रज्ञात में सात्त्विकवृत्ति रहने पर भी योग की अव्याप्ति नहीं है। यह निरोध सभी चित्तभूमियों सभी प्राणियों का धर्म, कभी किसी की बुद्धिभूमि में आविर्भूत होता है। क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध के भेद से चित्त की पांच अवस्थाएँ हैं। चित्त त्रिगुणात्मक है, अतः इन पाँच भूमियों के होने में कोई आपत्ति नहीं है। चित्त स्वभावतः

सभी विषयों के ग्रहण में समर्थ एवं विभु है, किन्तु तमोगुण से आवृत होने से सदा सभी विषयों का ग्रहण नहीं करता है; तमः के वर्धक विषयान्तर-वासना का योग से क्षय होने पर स्वयं ही ध्येय का साक्षात्कार करता है।

क्षिप्तः—रजोगुण की वृद्धि से चल चित्तभूमि होती है यह भूमि दैत्य दानवों की रहती है। मूढः—तमोगुण के उद्रेक से कृत्य, अकृत्य विचार से शून्य क्रोधादि से विरुद्ध आचरण में ही प्रवृत्त रहती है, धर्मादि का प्राबल्य रहता है, यह राक्षस पिशाच आदि के चित्त की भूमि है। विक्षिप्तः—सत्त्व के उद्रेक से दुःख साधनों का परित्याग कर सुख के साधन शब्द आदि में सदा प्रवृत्ति होती है—यह चित्त की वृत्ति देवों की रहती है। ये तीनों वृत्तियों समाधि के लिए उपयुक्त नहीं हैं। इन तीन भूमियों में कतिपय वृत्तियों का निरोध होने पर भी ये योग की विरोधी हैं।

ध्येय से अतिरिक्त विषय से चित्त वृत्ति का निरोध एकाग्र भूमि है, सत्त्व की प्रधानता होने पर अविकारी, नित्य, चित्स्वरूप का हृदय देश में अन्तः-करणावच्छिन्न रूप में अभिव्यक्त होकर साक्षात्कार होता है, इस भूमि में अविद्या का उच्छेद होने से अविद्यामूलक क्लेश का नाश होता है—यह सम्प्रज्ञात योग की अवस्था है। रजोगुण और तमो गुण की वृत्ति का सर्वथा निरोध होकर सकल वृत्ति का संस्कार मात्र शेष रहने पर अर्थात् सभी वृत्तियों का निरोध रूप असम्प्रज्ञात भूमि है, यही निरुद्ध भूमि है ॥ २ ॥

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

चित्तवृत्ति का निरोध होने पर विवेक ख्याति होने से चित्त का संक्रमण न होने से कर्तृत्वरूप अभिमान की निवृत्ति होती है और द्रष्टा की ज्ञानस्वरूप अपने स्वरूप में = निर्विषय चित् मात्र रूप में अवस्थिति होती है। जैसे फूल को हटाने पर स्फटिक की स्वच्छ रूप में स्थिति होती है, वैसे ही वृत्ति का चैतन्य रूप में अवस्थान होता है ॥ ३ ॥

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

योग से अन्य काल में वृत्ति का सारूप्य रहता है। दीपशिखा के समान द्रव्य स्वरूप क्षणिक चित्तपरिणाम वृत्ति है। जैसी वृत्ति होती है अर्थात् व्यवहार करनेवालों की जैसी वृति रहती है वैसा ही पुरुष जाना जाता है। चैतन्य प्रतिबिम्ब के कारण वृत्ति का सारूप्य पुरुष में रहता है। वृत्ति की आकारता ही चित्त में उपरक्त वृत्ति का भान है। नागेश के अनुसार प्रतिबिम्ब का आभास है, वस्तुतः प्रतिबिम्ब नहीं होता है। द्रष्टा की वृत्ति के साथ अभिन्नरूपता ही है। बुद्धि में अर्थविषयक अर्थाकारता बुद्धि का परिणाम विशेष रूप है, प्रतिबिम्ब

नहीं है क्योंकि स्वप्न में विषय नहीं रहता है, अतः प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है। पुरुष में परिणाम स्वरूप वृत्ति नहीं हो सकती है, अतः प्रतिबिम्ब स्वरूप है। वृत्ति में ही प्रतिबिम्ब के अर्पण का सम्पर्क है, संस्कार मात्र शेष बुद्धि का असम्प्रज्ञात में प्रतिबिम्ब भी होता है। स्वस्वामिभाव की स्थिति ही प्रतिबिम्ब में नियामक है, अतः दूसरे की बुद्धिवृत्ति का दूसरे को भान नहीं होता है, भोग-कर्तृत्व एवं भोग्यता रूप जो सम्बन्ध है, वह अनादि अविद्यानिमित्तक है, नियत बुद्धि और पुरुष का स्वस्वामिभाव भी अनादि है। जैसे चुम्बक अपने में ही लोहे का सान्निध्य करता है, काँटे को खीचने में स्वामी का उपकारी होता है और उसका भोग साधन होने से अपना होता है वैसे ही चित्त लौह के समान विषयों को अपने सामीप्य में लाकर दृश्यत्व और उपकार करता हुआ पुरुष का अपना भोग साधन होने से अपना होता है, विषय सारूप्य ही चित्त का दुःख भोग है ॥ ४ ॥

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

चित्त की परिणाम स्वरूप वृत्ति पाँच प्रकार की है, वे वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से दो प्रकार की हैं। धर्म, अधर्म अर्थात् राग द्वेष आदि क्लेशों की साधन अर्थात् बन्धन करने वाली क्लिष्ट है, क्लेश को नाश करने वाली मुक्ति रूप फल देने वाली सत्त्व और पुरुष भेद गोचर वृत्ति अक्लिष्टा है ॥ ५ ॥

प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

वे पाँच वृत्तियाँ प्रमाण, विपर्य्य, विकल्प, निद्रा और स्मृति हैं ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम ये तीन प्रमाण हैं। शुद्ध चेतन प्रमाता है, वृत्ति प्रमाण है। अर्थाकार वृत्तियों का चेतन पर प्रतिबिम्बन प्रमा है, प्रति-बिम्बित वृत्तियों का विषय मेय है। कारण की अपेक्षा ज्ञान में होने से साक्षिता रूप है, साक्षित्व साक्षात् दर्शन रूप है। विकार शून्य द्रष्टृत्व को अन्य लोगों ने साक्षित्व माना है ॥ ७ ॥

विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

जो पदार्थ जैसा नहीं है, उसमें उस रूप में उत्पन्न होने वाला ज्ञान विपर्यय है। संशय, भ्रम, विपर्यय ज्ञान है ॥ ८ ॥

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

अर्थात् बुद्धि वृत्ति का जैसा आकार है उसके समान आकार विषय में स्थित न रहना, भ्रमस्थल में बुद्धि वृत्ति आकार का ही विषय में आरोप होता

है। संशय मिथ्याज्ञान है, इसी लिए उसका बाध होता है। योगमत में अन्यथाख्याति वैशेषिक मत में बाह्य रजत का आरोप है और इस दर्शन में आन्तर रजत का आरोप है बौद्धों ने इस विषय को यहीं से संगृहीत किया है।

शब्द विषयक ज्ञान से जन्य वृत्तिविशेष अर्थात् अर्थ रहित विकल्प है। बन्ध्या का पुत्र जा रहा है, इसके सुनने के बाद जो विषय शून्य वृत्ति होती है—वही विकल्प है ॥ ९ ॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

उक्त वृत्तियों का जो अनुत्पाद = अभाव उसका कारण जो तमो गुण उस तमो गुण की अधिकता से उत्पन्न चित्तविषयिणी वृत्ति निद्रा है, जागरण और स्वाप्निक वृत्ति के न होने पर चित्त की स्वगत सुख आदि विषय की निद्रा वृत्ति होती है, इसकी अनुमिति होती है, क्योंकि निद्रा से उठने के बाद सुख पूर्वक मैं सोया यह स्मरण होता है, अनुभव के विना स्मृति नहीं हो सकती है, अतः निद्रा वृत्ति को मानना पड़ता है। तार्किक इस वृत्ति को स्वप्नज वृत्ति मानते हैं। सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान करणों के अभाव से ज्ञानशून्यत्व की स्थिति ही मानते हैं। सभी वृत्तियों से शून्य अवस्था योग में भी मानी गई है, इसमें तमोगुण दोष है। इन्द्रियों की उत्पत्ति के विना भी हिरण्यगर्भ को ज्ञान उत्पन्न होने से ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रिय हेतु नहीं हैं ॥ १० ॥

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

प्रमाण के द्वारा अनुभूत विषय का संस्कार के द्वारा असम्प्रमोष = अधिक विषय शून्य ज्ञान स्मृति है। स्मृति में अनुभव के समान विषय रहता है प्रायः स्मृति अनुभूति विषय से कम विषय की ही होती है अधिक विषय की नहीं होती है। असम्प्रमोष का अर्थ बुद्धि में आरुढ़ होना भी है ॥ ११ ॥

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

प्रकाश प्रवृत्ति नियमन रूप वृत्तियों का या स्वभाव से चित्तवृत्ति रूपी नदी विषय भूमि की ओर अर्थात् संसार सागर की ओर प्रवाहित होती है उसका, विषय में दोष दर्शन से उत्पन्न वैराग्य एवं विवेक ज्ञान रूप अभ्यास से विवेक मार्ग के अनुरूप अर्थात् नदी को विपरीत प्रवाह के समान करना वृत्ति का निरोध होता है। निरोध स्वरूप कैवल्य समुद्र में चित्त नदी का विलय होता है ॥ १२ ॥

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

वृत्ति रहित चित्त का स्वरूप परिणामरूप गति शून्यता में यत्न = उत्साह अभ्यास है। चित्त का एकाग्र अर्थात् राजस तामस वृत्ति रहित सात्विक मात्र वृत्तिरूप एकाग्रता की स्थिति के सम्पादन की इच्छा से उसके साधन विषय के अनुष्ठान का प्रवाह अभ्यास है ॥ १३ ॥

स तु दीर्घकालादरनैरन्तर्य्यसत्कारसेवितो दृढ़भूमिः ॥ १४ ॥

अभ्यास को बहुत दिनों तक अर्थात् अनवरत तप ब्रह्मचर्य श्रद्धा आदि पूर्वक अनुष्ठान से दृढ़ भूमि होती है ॥ १४ ॥

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

लौकिक माला, चन्दन, वनिता आदि विषयों में एवं वेद से प्रतिपादित स्वर्ग करणलय एवं प्रकृतिलय अणिमादि आठ ऐश्वर्यों में यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रियसंज्ञक तीन प्रकार के वैराग्यों से मुक्त रहने पर चित्त का प्रकृष्ट विषय के सान्निध्य में भी उनके प्रति उपेक्षा बुद्धि = (ये विषय मेरे अधीन मैं इसके अधीन मैं नहीं हूँ) अर्थात् राग आदि वासनाओं का उत्पन्न न होना वशीकारसंज्ञक वैराग्य है।

पूर्वोक्त तीन वैराग्यों से सम्पन्न रहने पर भी योगभ्रष्ट हो सकता है, इसलिए वशीकार वैराग्य की आवश्यकता होती है। अतः, आद्य तीन वैराग्यों के अभ्यास से उत्पन्न वशीकारसंज्ञक वैराग्य ही योग का साधन है ॥ १५ ॥

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

(१) यतमानः—वैराग्य के साधन अर्जन, रक्षण, क्षय, हिंसा आदि अनन्त दोषों के दर्शन आदि का ज्ञान पूर्वक अनुष्ठान अर्थात् ज्ञानपूर्वक वैराग्य साधन दोष दर्शन आदि का अनुष्ठान यतमानसंज्ञक वैराग्य है, दूसरे शब्दों में राग आदि चित्त में स्थित कषायों का विषयों के प्रति इन्द्रिय प्रवर्त्तकों का भोग पाक के लिए प्रयत्न यतमान वैराग्य है। यह यतमान वितृष्णाकी प्रथम भूमिका है।

(२) इन इन्द्रियों को जीत लिया, इनको जीतना है अर्थात् पक्व कषायों का भविष्य में पाक होने वालों से भेद का निश्चय होना व्यतिरेकसंज्ञक वितृष्णा की द्वितीय भूमिका है।

(३) बाह्य इन्द्रियों के विषय रूप आदि में रागद्वेष आदि के नाश होने पर एक ही मन में मान अपमान आदि विषयक राग द्वेष आदि का हटाना अर्थात् सभी कषायों के पक्व हो जाने से मन में उत्कण्ठा के रूप में अवस्थान एकेन्द्रिय संज्ञक वितृष्णा की तृतीय भूमिका है।

(४) इन तीनों के अभ्यास से प्रकृष्ट विषय संयोग होने पर भी रागादि वासनाओं का उद्‌बुद्ध न होना अर्थात् स्त्री, अन्न, पान आदि दृष्ट विषयों में एवं गुरु के उच्चारण के पश्चात् जिसका श्रवण होता है अर्थात् अनुश्रव = वेद, उसमें कथित आनुश्रविक, स्वर्ग आदि दिव्य एवं अदिव्य विषयों में विनाश, क्षय सातिशय आदि दोषों के ज्ञान के अभ्यास के साक्षात्कार से वितृष्णा युक्त पुरुष की इनमें उपेक्षा बुद्धि वशीकार संज्ञक वितृष्णा की चतुर्थी भूमिका है। इस प्रकार वैराग्य की चार भूमिकाओं का निर्देश किया गया है।

योगाङ्गों के अनुष्ठान से निर्मल चित्त वाला व्यक्ति विषयों में दोष का दर्शन कर वशीकार वैराग्य से सम्पन्न हो जाता है, पुरुष और प्रकृति के भेद का उसको ज्ञान होता है, उसके अभ्यास से धर्ममेघा नामक समाधि में तत्पर व्यक्ति का तमो गुण और रजोगुण स्वरूप मल का विनाश हो जाता है। इस स्थिति में चित्त की सत्वज्ञान की महिमा से अतिशय प्रसन्नावस्था रहती है। इसके अभ्यास से ज्ञान के भी विनाशित्व आदि दोषों का साक्षात्कार कर आत्मतृप्त रहता है और ज्ञान साधनों में भी उपेक्षा हो जाती है, सभी क्लेशों का नाश, सभी कर्माशयों का क्षय होने से सम्प्रज्ञात रहने से विवेक ख्याति में भी उपेक्षा हो जाने से निर्विषय ज्ञान प्रसाद रूप असम्प्रज्ञात समाधि होती है—यह धर्ममेघ समाधि का फल कैवल्य रूप है, क्योंकि चित्त के धर्म प्रकृति में लय हो जाते हैं। बौद्धों की दशमी भूमिका धर्ममेघ के बाद की यह भूमि है। यही गुण वैतृष्ण्य रूप पर वैराग्य है। यहाँ ज्ञान में भी वितृष्णा रहती है। कतिपय आचार्यों ने पुरुष ज्ञान से प्रकृति पुरुष के भेद ज्ञान के साक्षात्कार से सभी गुणों में जो आत्म साधन है, उनमें वैतृष्ण्य होने से पर अर्थात् श्रेष्ठ वैराग्य हो जाता है ॥ १६ ॥

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

योग के स्वरूप का निरूपण कर सम्प्रज्ञात के स्वरूप का निरूपण किया जारहा है—संशय विपर्यय रहित भाव्य=ध्येय का प्रकृष्ट ज्ञान जिससे होता है—वह सम्प्रज्ञात समाधि है। सम्प्रज्ञात समाधि, सवितर्क, सविचार, सानन्द, और सास्मिता के भेद से चार प्रकार की है। सम्प्रज्ञात समाधि भावना विशेष है। भाव्य विषय से अन्य विषय का परित्याग कर भाव्य का चित्त में पुनः पुनः निवेशन भावना है। भाव्य दो प्रकार का है—ईश्वर और तत्त्व, जड़ और अजड़ के भेद से तत्त्व दो प्रकार के हैं। जड़तत्त्व चौबीस प्रकार के हैं, पुरुष अजड है।

सवितर्क समाधि :—जब स्थूल महाभूत और इन्द्रियों को विषय के रूप में ग्रहण कर पूर्व और पर का अनुसन्धान करते हुए शब्द और अर्थ के

उल्लेख की भली भाँति भेद पूर्वक भावना की जाती है, तब इसको सवितर्क समाधि कहा जाता है।

निर्वितर्क समाधिः—सवितर्क समाधि के अवलम्बन में पूर्व अपर के अनुसन्धान रूप शब्द और अर्थ के भेद से शून्य भावना करने पर निर्वितर्क समाधि होती है। इस फल से युक्त चित्तवृत्तिनिरोध वितर्क के अनुगत है। अदृष्ट अश्रुत और अमत विषयों का पूर्व से चिन्तन न रहने पर भी योग के बल पर ही एक के बाद दूसरे का साक्षात्कार होता है। स्थूल तत्त्व के साक्षात्कार से तप्त लौह के गोले में अभिन्न रूप में पुरुष तक का भान होता है। किन्तु आगे बढ़ने पर पूर्व का परित्याग होता चलता है। ध्रुव आदि भक्तों को जपादि से ईश्वर प्रणिधान पूर्वक चतुर्भुज भगवान् के साक्षात्कार से—यह विलक्षण है। वहाँ तप, ध्यान आदि से सन्तुष्ट भगवान् अप्राकृत शरीर का आविर्भाव कर अर्थात् प्रकट होकर व्यवहार करते हैं, इसी लिए तन्त्र आदि में भगवान् का शरीर, आयुध, वाहन सभी उनसे अभिन्न माने गये हैं, यदि शरीर आदि प्राकृत होता तो ईश्वर से अभिन्न नहीं हो सकता। योगी अपने योग बल से वैकुण्ठ आदि स्थान विशेष में स्थित उनसे व्यवहित होने पर भी उनका दर्शन करता है।

सविचारः—तन्मात्रा (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) अन्तःकरण रूप सूक्ष्म विषय का अवलम्बन कर देश काल धर्म से अवच्छिन्न = भिन्न होकर भावना की प्रवृत्ति से अशेष-विशेष का साक्षात्कार सविचार है। दोष दृष्टि से सवितर्क का स्थूलाकार दर्शन का परित्याग होकर उसके कारण रूप से अनुगत तन्मात्रा आदि प्रकृति के सूक्ष्म तत्त्व अवलम्बन के रूप में गृहीत होते हैं।

निर्विचारः—सविचार के अवलम्बन में देशकाल धर्म रूप में भेदक को छोड़कर मात्र धर्मी को अवभासन करने वाली भावना निर्विचार है। इन दो योगों तक ग्राह्य अर्थ की प्राप्ति है, अतः ये ग्राह्य समापत्ति के नाम से कही जाती हैं।

सानन्द समाधिः—उसी आलम्बन में उस दृष्टि में भी दोष दर्शन से उनको त्यागकर चौबीस तत्त्वों में अनुगत सुख रूप पुरुषार्थ में धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों के बल से पूर्ववत् अशेष-विशेष से सुखाकार उस आनन्द का ज्ञान ज्ञेय में अभेद उपचार से तदुपहित सानन्द समाधि है। अर्थात् जब रजः तमः से लेश मात्र अनुविद्ध इस अन्तःकरण में सत्त्व की भावना की जाती है, तब चिति शक्ति की अप्रधानता से भाव्यमान सुख के प्रकाशमय सत्त्व का उद्रेक होने से सानन्द समाधि होती है।

विदेह समाधिः—इसी समाधि में जो धैर्यबद्ध हो प्रधान पुरुष रूप तत्त्वान्तर को नहीं देखते हैं वह देह और अहङ्कार रहित होते हैं, अतः इसे विदेह समाधि शब्द से कहा जाता है।

ज्ञान ज्ञेय में अभेद का उपचार होने से उससे उपहित सानन्द समाधि है। यद्यपि सुख दुःख मोह सर्वत्र है, तथापि सुख के प्रति राग होने से संसार होने से और आत्मदर्शन का प्रतिवन्ध रहने से आनन्द ही अशेष विशेष रूप से योग से देखते हैं।

सास्मिता समाधिः—जब रजोगुण एवं तमोगुण से लेशमात्र भी अनभिभूत शुद्धसत्त्व को आलम्बन कर के भावना प्रवृत्त होती है, उस भावना में ग्राह्य सत्त्व का तिरोधान होने से चितिशक्ति के उद्रेक से सत्ता मात्र अवशेष रहने से सास्मिता समाधि होती है।

सास्मिता समाधि में सन्तोष धारण कर परम परमात्मा पुरुष को नहीं देखता है, उनका चित्त अपने कारण में लय होने से इसे प्रकृतिलय कहा जाता है। इसी की अन्तिम सीमा धर्ममेघ समाधि है। इसके उदय होने पर ज्ञान में भी अलं प्रत्यय रूप वैराग्य होता है। प्रथम जीवात्मा विषयक अस्मिता होती है, अनन्तर परमात्मविषयक अस्मिता होती है। जीवस्वरूप ज्ञान प्रत्यक्ष है, वहीं परिच्छिन्न कूटस्थत्व आदि ज्ञान का साक्षात्कार होता है; इसी को सत्त्वपुरुषान्याताख्याति शब्द से कहा जाता है।

यह सम्प्रज्ञात की वही अवस्था है जहाँ नित्यानन्द निरञ्जन आत्मा को देखता है। सम्पूर्ण विश्व को ईश्वर रूप में विमुक्त हो साक्षात् देखता है। कारण रूप होने से एवं विभुता होने से सर्वत्र अस्मिता का अनुगम अचेतन घट आदि के आलम्बन में भी रहने से चेतनत्व की अनुभूति होने से सभी के हित की भावना का उदय रहने से समत्व रूप योग होने से सम्पूर्ण विश्व के कल्याण के चिन्तन में तत्पर रहता है और इसी से आनन्द का विमुक्त रूप से अनुभव करता है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात की चार अवस्थायें है ॥ १७ ॥

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

वितर्क आदि वृत्तियों का त्याग रूप कारण के लिए यत्न का बार-बार चित्त में निवेश से जो वृत्ति होती है, उस वृत्ति का निषेध पूर्वक सम्प्रज्ञात समाधि संस्कार मात्र शेष सम्प्रज्ञात से विलक्षण असम्प्रज्ञात समाधि है। इसमें किसी भी जानने योग्य वस्तु का सम्प्रज्ञात नहीं रहता है, अतः यह निर्जीव असम्प्रज्ञात समाधि है, इसमें संस्कार मात्र चित्त रहता है,

वृत्ति नहीं रहती है। मोक्ष में चित्त अत्यन्त विलय हो जाने से संस्कार भी नहीं रहता है—यही दोनों में भेद है।

व्युत्थान, समाधि प्रारम्भ, एकाग्रता और निरोध चार प्रकार का चित्त परिणाम है। क्षिप्त और मूढ़ में चित्त का व्युत्थान रहता है, विक्षिप्त भूमि में सत्व का उद्रेक होने से समाधि प्रारम्भ है। निरुद्ध और एकाग्रता पर्यन्त भूमि है। व्युत्थान जनित संस्कार, समाधि प्रारम्भ से उत्पन्न संस्कारों से नष्ट होता है, निरोध से एकाग्रताजन्य संस्कार और स्वरूप नष्ट होते हैं। निरोध में अपना भी नाश हो जाता है। जैसे सोने के साथ सम्बन्धित शीशा सुवर्ण के मल के साथ स्वयं भी विनष्ट होता है ॥ १८ ॥

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १६ ॥

यह असम्प्रज्ञात योग दो प्रकार का है—

१. भवप्रत्यय २. विदेहप्रत्यय।

इसमें भवप्रत्यय मोक्ष की इच्छा करने वालों के लिए उपादेय है। विदेहश्च प्रकृतिलयश्च = विदेह और विदेह प्रकृतिलय है। जहाँ प्राणी जन्म ग्रहण करते हैं (भवन्ति अस्मिन् जन्तवः) भव=संसार अर्थात् अविद्या या जन्म यह प्रत्यय= कारण है जिसका; वह संसार मूलक असम्प्रज्ञात है, भूत एवं इन्द्रियों में भावना रहती है। स्थूल शरीर की अपेक्षा न कर लिङ्ग शरीर से सम्पूर्ण व्यवहार की क्षमता से सम्पन्न हिरण्यगर्भ आदि रहते हैं। भूत, इन्द्रिय, तन्मात्रा, अहङ्कार, महत्तत्व में किसी एक में आत्मत्वभावना से इनकी उपासना से, उस तत्त्व से वासित अन्तःकरण होने से शरीर के समाप्त होने पर पूर्वोक्त किसी में यह लीन होता है और संस्कार मात्र मन रह जाता है, स्थूल देह नहीं रहने के कारण वृत्ति न होने से कैवल्य के समान अनुभव करता है, किन्तु अवधि की समाप्ति के साथ पुनः संसार में प्रविष्ट हो जाता है। जैसे वर्षा ऋतु की समाप्ति होने पर मृत्स्वरूप मेढक वर्षा के जल से सिञ्चित होकर मण्डुक शरीर का अनुभव करता है। इसी विषय को काल निर्देश करते हुए लिखा गया है कि— इन्द्रिय-चिन्तक दशमन्वन्तर, भौतिक चिन्तक सौ मन्वन्तर आत्मिकचिन्तक सहस्रमन्वन्तर एवं बौद्धचिन्तक दशहजार वर्ष दुःखरहित हो व्यतीत करता है। इस शरीर के तिरोभाव के बाद अपने अपने अधिकार के अवसर पर प्रादुर्भाव रूप जन्ममात्र का कारण होने से यह भवप्रत्यय है, प्रकृतिलय होने से प्रकृति की उपासना एवं प्रकृतिशबलित या ईश्वर की उपासना से ब्रह्माण्ड को भेदकर बुद्धितत्त्वपर्यन्त आवरण को पारकर प्रकृति के आवरण में जाकर उसकी उपासना से उसकी वासना से वासित अन्तःकरण होने से स्थूलशरीर

का तिरोभाव होने पर प्रकृति में लीन होकर वे साधनों के अनुष्ठान के बिना ही वहाँ आविर्भाव होने से जन्म से ही वैसे रहते हैं। भवप्रत्यय इस शब्द को भवस्य लयः = भव का लय इस अर्थ में भी मानकर प्रकृतिलय भी यहाँ प्रतीत होता है। प्रकृतिस्थ की विवेकख्याति न रहने से स्थूलदेह के समान जातीय वृत्ति न होने के कारण कैवल्य के समान अनुभव करता है, इसीलिए इन्द्रिय आदि की उपासना करने वाले व्यक्ति के लिए इन्द्रियादि अभिमानी देवता आदित्य की प्राप्ति, फल के रूप में कही गई है। विदेह में अल्प ऐश्वर्य और विषय मलिन रहता है ये उनके भी ईश है, अपने सङ्कल्प मात्र से निर्मल सत्त्व विषय भाजन होने से ईश्वर के रूप में रहते हैं।

यह संसार की प्राप्ति के साधन होने से उपादेय है। विवेक ख्याति के अभाव से सोकर उठने के समान पुनः संसार में आते है ॥ १९ ॥

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकम् इतरेषाम् ॥ २० ॥

उपाय-प्रत्यय-सम्पन्न मुमुक्षु योगियों को (इतरेषाम् = प्रकृतिलय से अतिरिक्त योगियों को) श्रद्धा = अस्तिक्य बुद्धि होने से विवेकख्याति योग के प्रति उत्कण्ठा होती है। समर्थ माता के समान श्रद्धा हजारों विघ्नों अर्थात् भोग सम्पर्कों से रक्षा करती है। भोजवृत्ति के अनुसार योग विषय में चित्त का प्रसाद श्रद्धा है। श्रद्धामूलक विवेक चाहने वालों के लिए वीर्य = उस विषय की धारणा या उत्साह है। वीर्य से स्मृति ध्यान या अनुभूत विषय का असम्प्रमोष, स्मृति से समाधि=एकाग्रता या ध्येय विषय का साक्षात्कार रूप फल की प्राप्ति, समाधि से ध्येय साक्षात्कार रूप सम्प्रज्ञात अर्थात् धर्ममेघ रूप समाधि की पराकाष्ठा होती है। समाहित चित्त होने से प्रज्ञा = ऋतम्भरा प्रज्ञा पुरुष ज्ञान का अभ्यास अर्थात् रजोगुण तमोगुण के अभिभव = उन्मूलन से विषय के प्रति दोष दर्शन से सभी विषयों का परित्याग रूप वैराग्य से असम्प्रज्ञात साधन अर्थात् निरालम्बन स्वरूप प्रतिष्ठा ही असम्प्रज्ञात समाधि होती है ॥ २० ॥

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

मृदु श्रद्धादि, मध्य श्रद्धादि, अतिशय श्रद्धादि तीन समाधि के साधन हैं, ये भी मृदुसंवेग, मध्य-संवेग तीव्र संवेग से तीन-तीन प्रकार के हैं। इनके तीव्र श्रद्धादि की तीव्रसंवेग की अवस्था में विलम्ब रहित योग होता है। अर्थात् अल्प समय की ही समाधि होती है ॥ २१ ॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

मृदुसंवेग, मध्यसंवेग, तीव्रसंवेग के भेद से नवयोगी होते हैं। तीव्र संवेग ही में समाधि असम्प्रज्ञात होती है ॥ २२ ॥

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

सम्प्रज्ञात पूर्वक असम्प्रज्ञात योग जीवात्मा के प्रयास से आसन्नतम कहा गया है, अब अन्य साधन से असम्प्रज्ञात योग के आसन्नतम का साधन निरूपण करते हुए कहा है—अथवा ईश्वर की भक्ति विशेष से मोक्ष आसन्नतम होता है ॥ २३ ॥

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

ईश्वर का स्वरूप निरूपण कर रहे हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश स्वरूप क्लेश, धर्म और अधर्म रूप कर्म, जाति, आयु और भोग इन कर्म फल रूप विपाक, इनके फल अनुगुण संसार रूप आशय से अपरामृष्ट = सदा असम्बद्ध ईश्वर है ॥ २४ ॥

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

परिणाम कहीं विश्रान्ति को लाभ करता है, घट आदि परिणाम सातिशय है, क्योंकि निरतिशय विभुपरिमाण से युक्त है, अतः निरतिशय ज्ञानवान् ईश्वर सिद्ध है। आशय यह है कि—परिमाणत्व जाति सातिशय परिमाण वृत्ति है और वह निरतिशय विभु परिमाण में भी समवेत होती है, इसी प्रकार ज्ञानत्व जाति भी सातिशय हम लोग के ज्ञान में समवेत होने से निरतिशय = सर्वविषयक ज्ञान में भी समवेत है। अतिशय के साथ वर्तमान सातिशय होता है, जैसे घट के परिमाण से कण्डाल का परिमाण अधिक होने से घट परिमाण से कण्डाल का परिमाण सातिशय होता है, एक जाति के दो व्यक्तियों में एक के अतिशयित होने पर दूसरा सातिशय होता है। सातिशय घट परिमाण में समवेत परिमाणत्व जाति जैसे गगनादि निरतिशय परिमाण में भी समवेत रहती है। इस दृष्टान्त के द्वारा ज्ञानत्व जाति भी निरतिशय ज्ञान में समवेत रहेगी। विषय के द्वारा ही ज्ञान का अतिशय या उत्कर्ष होता है। जिस ज्ञान का विषय अधिक होगा, वह ज्ञान उतना ही उत्कृष्ट होगा। फलतः सबसे अधिक विषय वाला ज्ञान उत्कृष्टतम होगा। ज्ञानत्व जाति सातिशय वृत्ति होने से उस ज्ञान व्यक्ति में भी समवेत रहेगी, जिसकी अपेक्षा अधिक विषयक ज्ञान सम्भव नहीं है। सर्वातिशायी ज्ञान ही सर्व विषयक ज्ञान है। अतः निरतिशय ज्ञान ही सर्वज्ञ का ज्ञान है। ज्ञान गुण है, अतः उसका कोई आश्रय अवश्य ही रहेगा,

निरतिशय ज्ञान का आश्रय सर्वज्ञ है और वही ईश्वर है। इसी दृष्टि से वायु पुराण में कहा है—

सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबोध, स्वतन्त्रता नित्यत्व, अलुप्तशक्ति और अनन्त-शक्ति ये ही व्यापक महान ईश्वर के छ अङ्ग कहे गये हैं।

ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, क्षमा, धृति, सृष्टिकरण-सामर्थ्य, आत्म-संज्ञान, अधिष्ठातृत्व ये दश व्ययशून्य गुण शङ्कर में सदा वर्तमान रहते हैं।

"सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य॥
ज्ञानवैराग्मैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः।
स्रष्टृत्वमात्मसम्बोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च॥
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे॥ २५॥

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥ २६॥

यह ईश्वर पूर्वसर्ग में उत्पन्न ब्रह्मा विष्णु आदि का गुरु है अर्थात् इनका स्रष्टा अन्तर्यामी के रूप में वेदादि के द्वारा ज्ञानतेज को देने वाला है, क्योंकि यह शत, सहस्र आदि कालों से अवच्छिन्न नहीं है। यह ईश्वर निमित्त कारण है, अतः उपादान कारण प्रकृति के स्वातन्त्र्य की हानि नहीं है। श्रुति में भी कहा है—यो ब्राह्मणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै॥२६॥

तस्य वाचकः प्रणवः॥ २७॥

उस ईश्वर का सङ्केत के द्वारा वाचक प्रणव ओङ्कार है। प्रकृष्ट रूप से नूयते = स्तुति जिससे की जाती है, वह प्रणव है। प्रणव में वाच्य वाचक भाव रूप ईश्वर सङ्केत किसी से किया नहीं जाता है, अभिव्यक्त होता है, प्रणव में स्थित शक्ति सङ्केत से अभिव्यक्त होती है, जैसे पिता और पुत्र में विद्यमान जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध का; यह उसका पुत्र है यह उसका पिता है—इसके द्वारा अभिव्यक्त होता है, फलतः स्थित सम्बन्ध का ही अभिव्यञ्जक सङ्केत है॥ २७॥

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ २८॥

उस प्रणव का जप, उस प्रणव के वाच्य अचिन्त्य ऐश्वर्ययुक्त परमात्मा का श्रद्धा आदि के द्वारा भावना = ध्यान है। दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार पूर्वक प्रणव के अर्थ, असङ्ग चिद्रूप ईश्वर का दृढ़ता पूर्वक ध्यान करना चाहिए, स्वतः वाणी के व्यापार रूप प्रलीन होने पर वाचक का तिरोधान होता है; तब उसके अर्थ स्वरूप असङ्ग चिद्रूप की साक्षात्कार स्वरूप वृत्ति की भावना

को बहुत दिनों तक दृढ़रूप में श्रद्धा पूर्वक चलाने पर, उसकी प्रसन्नता से चित्त निरोध की ओर अग्रसर होने पर ईश्वर को विश्रान्त स्थान के रूप में प्राप्त कर असङ्ग चिद्रूप आत्मा का स्मरण होता है, वृत्ति का अविषय होने से उसकी भी प्राप्ति नहीं कराता है, इस स्थति में काष्ठ के विना जैसे अग्नि शान्त हो जाती है, वैसे ही संस्कारमात्र भावना रह जाती है, अनन्तर प्रत्यक् चेतना अर्थात् सबकी अन्तर्यामी चिति शक्ति = चेतना की प्राप्ति अर्थात् चेतना भासमान होती हुई अपने स्वरूप में निरन्तर निर्विघ्न अवस्थान करती है। अतः सभी वृत्तियों का विलय होने से विघ्न का अभाव हो जाता है, यही ईश्वर प्रणिधान का वैशिष्ट्य है ॥ २८ ॥

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २६ ॥

ईश्वर के जप उसके अर्थ की भावना से प्रत्यक् चैतन्य जीव का साक्षात्कार होता है और समाधि के विघ्नों का निवारण होता है। प्रतीप = विपरीत अर्थात् जो विषय के प्रतिकूल, रूप से जाना जाता है वह प्रत्यक् अर्थात् आत्मा और शुद्ध चेतन अर्थात् जीव स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है, अर्थात् ईश्वर प्रणिधान से जीव का साक्षात्कार होता है। ईश्वर के प्रणिधान से उससे भिन्न का साक्षात्कार कैसे होगा ? यह सन्देह ठीक नहीं है, क्योंकि ईश्वर और जीव का शुद्ध, प्रसन्न असङ्ग और चिद्रूप में सादृश्य है, अतः ईश्वर का अनुग्रह जीव के स्वरूप साक्षात्कार का साधन होता है ॥ २९ ॥

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

व्याधि = वात पित्त कफ की विषमता से उत्पन्न ज्वर आदि, स्त्यान = योग के अनुष्ठान में अक्षमता या चित्त की अकर्मण्यता, संशय=शास्त्रों के द्वारा निर्दिष्ट साधनों, विरुद्ध दो कोटियों का अवलम्बन करनेवाला ज्ञान अर्थात् योग साध्य है या नहीं, प्रमाद = योगाङ्गों के अनुष्ठान की शून्यता अर्थात् समाधि के साधनों में औदासीन्य = शमादि भावना का अभाव, आलस्य = शरीर, चित्त और वाणी की गुरुता योग के अनुष्ठान में अप्रवृत्ति, अविरति = विषय की अभिलाषा, भ्रान्ति दर्शन = शास्त्र कथित अर्थ से विपरीत निश्चय, जो पदार्थ जैसा नहीं है उसमें वैसा ज्ञान अर्थात् रस्सी में सर्प का ज्ञान, अलब्ध-भूमिकत्व = किसी कारण से साधनों का अनुष्ठान करने पर भी समाधि भूमि की अप्राप्ति, अनवस्थितत्व = चित्त की समाधि में प्रतिष्ठित नहीं रहना अर्थात् योग से भ्रष्ट होना ये नव कारण चित्त को योग से भ्रष्ट करते हैं, अतः ये योग के विघ्न हैं ॥ ३० ॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

दुःख = स्वभावतः द्वेष्य अर्थात् प्रतिकूल वेदनीय होने से स्वभावतः त्याज्य, दौर्मनस्य = बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से मन की दुःस्थता अर्थात् मन का चाञ्चल्य, या विषय की अभिलाषा के विधान से मन में मोह, अङ्गमेजयत्व शरीरावयवों में कम्पन, श्वास=बाह्य वायु का अन्दर प्रवेश, प्रश्वास=देह से वायु का अधिक निकलना, ये चित्त विक्षेप के साथ ही उत्पन्न होते हैं। (अतः अभ्यास और वैराग्य से इनका निरोध करना चाहिए।) ॥ ३१ ॥

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

विक्षेप एवं विक्षेप के साथ उत्पन्न पूर्व के दो सूत्रों के द्वारा निर्दिष्ट विघ्नों की ईश्वर के प्रणिधान से निवृत्ति मुख्य कल्प है, यदि यह सम्भव न हो तो अपने अभिमत किसी एक तत्त्व में चित्त का पुनः पुनः निवेश करें, इससे एकाग्रता का उदय होने से विघ्नों का निवारण होता है ॥ ३२ ॥

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

मैत्री = सौहार्द, करुणा = कृपा, मुदिता = हर्ष, उपेक्षा = औदासीन्य, को क्रमशः सुखी, दुःखी, पुण्यवान् और अपुण्यवान्=पापी के प्रति अभ्यास करने से चित्त एकाग्र होकर आनन्दित रहता है। आशय यह है कि श्रद्धा वीर्य आदि अभ्यास में स्थिति-साधन करने के लिए वशीकार के द्वारा ये अप्रतिबन्धक साधन है। सुख सम्पन्न व्यक्तियों के प्रति ये मैत्री करें ईर्ष्या न करें, दुःख-युक्त व्यक्ति के प्रति किसी उदासीनता का अवलम्बन न करें वरन् करुणा की भावना रखे। पुण्यवान् व्यक्ति के पुण्य का अनुमोदन से हर्ष की प्राप्ति करे उसके पुण्य से विद्वेष नहीं करे, पुण्य हीन व्यक्तियों के प्रति उदासीनता की भावना करे न अनुमोदन करे और न द्वेष करे इन भावनाओं से चित्त की प्रसन्नता से सुख पूर्वक समाधि का आविर्भाव होता है। ये परिकर्म कहे जाते हैं, एकाग्रता का साधन चित्त :संस्कार ही परिकर्म है। यह प्रतिकर्म विषय की कलुषता से रहित चित्त का प्रसाद है। रागद्वेष ईर्ष्या असूया, अमर्ष पाप आदि मलों के हटाने से ये उनके साधन हैं ॥ ३३ ॥

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

प्राणवायु अर्थात् शरीरान्तर्गत वायु के प्रच्छर्दन अर्थात् शरीरान्तर्गत वायु का बत्तीस मात्रा प्रमाण से धीरे-धीरे पिङ्गला नाडी से बाहर निकालना, बाहर निकाली गई वायु को सोलह मात्रा प्रमाण से अन्दर पूर्ण कर अर्थात् पूरक

करे, पूरित वायु को पुनः चौसठ मात्रा प्रमाण से विधारण आन्तर कुम्भक, एवं रेचित का चौसठ प्रमाण से बाहर ही विधारण रूप बाह्य कुम्भक से तीन प्राणायाम है, इस प्राण स्पन्द रूप निरोध से चित्त का दोष जलता है, इस प्राणायाम से चित्त स्थिति एकाग्र रूप में सम्पन्न होती है, क्योंकि सभी इन्द्रियवृत्तियाँ प्राणवृत्ति पूर्वक है, मन और प्राण का अपने व्यापार में समान योगक्षेम है; अतः प्राण के क्षीण होने से सभी इन्द्रिय वृत्तियों के निरोध के द्वारा चित्त की एकाग्रता का सम्पादन होता है। कहा गया है—

जैसे पर्वत-स्थित-मल वायु के स्पन्दन से सर्वथा दूर हो जाते हैं, वैसे ही प्राण के निग्रह से इन्द्रियों के द्वारा किये गये सभी मल जल जाते हैं।[1]

प्राणवायु का स्पन्दन ही चित्त स्पन्दन है, अतः बुद्धिमान् व्यक्तियों के द्वारा प्राण स्पन्दन के नाश के लिए चेष्टा करनी चाहिए।[2]

प्राण और मन की क्रिया सहभावी होने से प्राण के निग्रह से मन भी निगृहीत होता है। निरोध का यह भी साधन है। इस प्रकार चित्तनिरोध के तीन उपाय हैं १. योग, २. ईश्वरप्रणिधान ३. प्राणायाम ।। ३४ ।।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना स्थितिनिबन्धिनी ।। ३५ ।।

सम्प्रज्ञात समाधि के पूर्व अङ्ग को कह रहे है :—

मन की गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द रूप फल की साधन प्रवृत्ति विषयवती प्रवृत्ति है—इनके उत्पन्न होने से मन की स्थिरता होती है। योगशास्त्र की प्रक्रिया के अनुसार नासिका के अग्रभाग में चित्त को धारण करने पर दिव्यगन्ध विषय प्रकृष्टा अर्थात् साक्षात्कार रूपा वृत्ति = संवित् अर्थात् ज्ञान होता है। मनको जिह्वा के अग्रभाग में धारण करने पर दिव्य रस का साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है। तालु के अग्रभाग में मन को धारण करने पर दिव्य रूप का साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है। मन को जिह्वा के मध्य में धारण करने पर दिव्य स्पर्श का साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है। मनको जिह्वा के मूल में अर्थात् चित्त को वहाँ धारण करने पर शब्द की साक्षात्कारात्मक वृत्तियाँ=ज्ञान होता है। इसी प्रकार चन्द्र, आदित्य, ग्रह, मणि रत्न आदि की वृत्तियाँ भी होती है, ये दिव्य संवित् चित्त की एकाग्रता के साधन हैं। शास्त्र के प्रतिपादित अर्थों के एक भाग का साक्षात्कार होने पर अतिरिक्त विषयों में भी संशय न रहने पर श्रद्धा धैर्य, वीर्य आदि के द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों में निःशङ्क योग प्रवृत्ति होती है ॥ ३५ ॥

---

१. योग सु० पृ० ४२।

२. योग सु० पृ० ४२।

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

चित्त की पूर्वोक्त प्रकृष्ट वृत्ति स्थिति निबन्धिनी होती है। ज्योतिः = सात्त्विक प्रकाश है। इस सात्त्विक प्रकाश का अतिशय जिस प्रकृष्ट वृत्ति में रहता है; वह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है। रजोगुण और तमोगुण का प्ररिणाम रूप शोक से रहित होने से सत्त्वमय अभ्यास विशोका = विगतशोका प्रकृष्टवृत्ति चित्त को स्थित [करने वाली है। आत्मसाक्षात्कार के बाद भी चित्त की स्थिति असम्प्रज्ञात साधन पर वैराग्य के उत्पादन के लिए अपेक्षित है ॥ ३६ ॥

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

आशय यह है कि प्राणायाम के अङ्ग रेचन से अष्टदल हृदय कमल को ऊर्ध्वमुख रूप में ध्यान कर उसकी कर्णिका में स्थित ऊर्ध्वमुखी सुषुम्णानामक नाड़ी में संयम करने से चित्त तत्त्व के ध्यान से ज्योतिः गोचर मन की संवित् होती है। यह मन सूर्य, चन्द्र, ग्रह, मणियों की प्रभा के रूप में अनेक प्रकार का होता है, यह सात्त्विक ज्योतिः मन है, इसका कारण सात्त्विक अहङ्कार तरङ्गशून्य महान् समुद्र के समान व्यापी है, इस ज्योतिः स्वरूप मन का संयम करने से संवित् होती है—यह संवित् दो प्रकार की है— चित्त तत्त्व के ध्यान से ज्योतिः गोचर संवित् ज्योतिष्मती है और दुःखशून्य उत्पन्न प्रवृत्ति मन की स्थिति का साधन है।

ज्योतिष्मती एवं विशोका चित्त प्रवृत्ति के बाद मन के स्थित होने पर विषय की अभिलाषा से शून्य चित्त क्लेश के दूर हो जाने से परित्यक्त राग विषयक चित्त स्थिति का साधन होता है, या वीतराग सनक, शुक आदि के विषय का अवलम्बन कर योगी का चित्त दृढ़ स्थिति के लिए होता है ॥३७॥

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

चित्त की स्थिति के अन्य उपायों का दर्शन करते हुए कहा है, जाग्रत् ज्ञान में स्वप्न ज्ञान दृष्टि करने पर अर्थात् विषय को क्षणिक मानने पर एवं जाग्रत्पुरुषज्ञानों में सुषुप्ति ज्ञान दृष्टि करने पर स्वरूप के आवरण के साम्य से बाह्य इन्द्रियों की वृत्तियों के अवरुद्ध होने से इन दो अवस्थाओं के स्वप्नालम्बन या निद्रालम्बन ज्ञान का आलम्बन कर चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है। बाह्य इन्द्रिय वृत्तियों के अस्त होने पर मनमात्र से वृत्ति का आलम्बन स्वप्न है, अतः स्वप्न में भगवान् की मनोमयी अत्यन्त मनोहर-मूर्ति की आराधना करता हुआ जाग कर उस मनोमय आकार में चित्त-स्थिति या निद्रा में जो सुख होता है, उस सुख में चित्त को धारण करने से विरक्त चित्त स्थिर रहता है ॥ ३८ ॥

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३६ ॥

अभीष्ट बाह्य, या चन्द्र आदि का आभ्यन्तर नाड़ी चक्र आदि में भावना करने पर वह चित्त की स्थिरता का साधन हेतु होता है हरि, हर आदि जो स्वरूप अभिमत हो उसका ध्यान करे, वहाँ स्थिरता प्राप्त कर अन्यत्र भी चित्त स्थिर होता है। प्रसाद से लेकर यहाँ तक के कर्म शास्त्र में 'परिकर्म' शब्द से कहे जाते हैं ॥ ३९ ॥

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

इस परिकर्म संज्ञा वाले चित्त का इन उपायों से चित्त से सूक्ष्म विषय की भावना के द्वारा परमाणु से लेकर परम महत्त्व पर्यन्त वशीकार अर्थात् मन प्रतिहत नहीं होता है, इसी जगह चित्त का स्वातन्त्र्य रहता है। अभ्यास वैराग्यादि से परिकर्म पर्यन्त योग का अन्तरङ्ग साधन है ॥ ४० ॥

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

ध्येय से अतिरिक्त विषय की वृत्ति का निरोध होने पर अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि सम्पन्न होने पर वहाँ एकाग्रता एवं तदञ्जनता = तन्मयता रूप परिणाम होता है। जैसे अतिशय स्वच्छ अर्थात् स्वभावतः निर्मल स्फटिकमणि का जपाकुसुम रूप उपाधि के कारण या समीपस्थ वस्तु के रूप की प्राप्ति होती है वैसे ही ग्राह्य रूप आकार प्राप्ति, अनन्तर ग्रहण रूप आकार प्राप्ति के अनन्तर पूर्वोक्त अस्मिता मात्र स्वरूप ग्रहीता अर्थात् पुरुष रूप की प्राप्ति होती है। अर्थात् उपाधि के रूप से उपरक्त होकर उसी के आकार में, मणि अपने स्वरूप के अभिभूत होने से, सन्निहित वस्तु के रूप में भासमान होता है, वैसे ही ग्राह्य = ध्येय का आलम्बन करने पर उससे उपरक्त चित्त ग्राह्यस्वरूप के आकार के रूप में भासमान होता है, ग्रहण = इन्द्रिय आलम्बन से उपरक्त चित्त ग्रहण का सान्निध्य प्राप्तकर ग्रहणस्वरूपाकार में भासमान होता है। इसी रूप में ग्रहीता पुरुष के आलम्बन से उपरक्त ग्रहीता पुरुष का सान्निध्य प्राप्त कर चित्त ग्रहीता पुरुष के आकार में भासमान होता है। समापत्ति तन्मयता है। ग्राह्य विषयक समापत्ति स्थूल पृथिवी घट आदि पाँच भूततत्त्व विषयक, शब्द पञ्च तन्मात्र आदि सूक्ष्म भूत विषयक है। ग्रहण विषयक समापत्ति अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रिय विषयक ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और प्राण, अन्तरिन्द्रिय मन, अहङ्कार, महत्तत्त्व, ग्रहीता विषयक समापत्ति पूर्वोक्त सास्मिता ध्यान है। ज्ञाननिरुद्ध होकर ज्ञाता अपने स्वरूप में रहता है। पुरुष का स्वरूप द्रष्टृत्व है ॥ ४१ ॥

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

सम्प्रज्ञात समाधि के भेद सवितर्क का स्वरूप—गौ यह कहने पर गौ यह शब्द, गौ यह अर्थ एवं गौ यह ज्ञान, ये तीनों अभिन्न रूप में परस्पर अध्यस्त हो कर भासमान होते हैं, अर्थात् अर्थ और ज्ञान शब्द के साथ अभिन्न होकर भासमान होते है। यहाँ शब्द और ज्ञान से अभेद रूप से विकल्पित स्थूल गौ आदि अर्थ में शब्द के द्वारा गोत्व अर्थ और उसका ज्ञान का अभेद न रहने पर 'गो' इस शब्द के ज्ञान से बुद्धि में भासमान होते है, अर्थात् अलीक = वस्तु शून्य होने पर भी समाहित चित्त योगी की समाधि के साक्षात्कार का विषय कल्पित अर्थ होता है, यह समाधि प्रज्ञा, शब्द अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से संकीर्ण मिश्रित के समान होने से सवितर्क समाधि है।

सामान्य चिन्तन धारा शब्द अर्थ और ज्ञान से मिश्रित रहती है, यह चिन्ता विशुद्ध नहीं है अतः, ऋतम्भरा योगज प्रज्ञा की उपयोगी नहीं है। क्योंकि शब्द; अर्थ और ज्ञान की प्रज्ञा भिन्न है ॥ ४२ ॥

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

निर्वितर्क :—

शब्द और ज्ञान के साथ अर्थ का स्मरण होता है, शक्तिरूप सङ्केत विकल्पित अर्थों में होता है। अर्थात् अविनाभाव रूप में शब्द और अर्थ का बोध होता है। किन्तु शब्द भिन्न है और अर्थ भिन्न है। एक कर्ण रूप इन्द्रिय से ग्राह्य है और दूसरा अन्य इन्द्रिय से ग्राह्य है। सङ्केत पूर्वक संस्कार से दोनों की स्मृतियाँ सङ्कीर्ण रहती है। शब्द को छोड़कर केवल अर्थ मात्र (ध्येय) की चिन्ता कर अभ्यास करने पर स्मृति-साङ्कार्य्य समाप्त होता है, फलतः शब्द शून्य अर्थ की चिन्ता होती है। यह स्मृति परिशुद्धि है। शब्द की सहायता के विना जो ज्ञान होता है; वही यथार्थ वास्तविक अर्थ का ज्ञान है, फलतः शब्द की सहायता से ज्ञान अनेक स्थलों में अलीक विकल्प मात्र होता है, इस ज्ञान को ऋत या साक्षात् अधिगत सत्य नहीं कहा जा सकता है, किन्तु सत्य का आभास मात्र है। इस प्रकार शब्द की सहायता के विना केवल अर्थ मात्र का निर्भासक ज्ञान निर्वितर्क ज्ञान या ऋत ज्ञान है। सत्य और ऋत में भेद है, अविच्छिन्न मूलरेखा धूम जिस स्थान पर है वही अग्नि है, यह सत्य है, किन्तु अग्नि के साक्षात् के बाद का ज्ञान 'ऋत' है। ऋत = perceptualfact है और सत्य = concaptualfact है। अतः शब्द अर्थ और स्मृति के लय के बाद स्पष्ट ग्राह्याकार प्रतिभास होने से स्वरूप शून्य के

समान पूर्वोक्त विकल्प रहित अर्थमात्र अवभासित ही निर्वितर्क प्रज्ञा समापत्ति है ॥ ४३ ॥

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

सविचारा = सवितर्का और निर्विचारा = निर्वितर्का स्थूल विषय को लेकर एवं सूक्ष्म तन्मात्र इन्द्रिय आदि को विषय बनाकर उत्पन्न समापत्ति सूक्ष्म विषया सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति है। पार्थिव परमाणु का गन्ध तन्मात्र आदि को सङ्कीर्ण रखकर ज्ञात होना अथवा इससे शून्य देशकाल आदि परिच्छेदक तत्त्व से रहित शुद्ध सूक्ष्म विषय निर्विचार है।

सवितर्क समापत्ति—

सूर्य को विषय के रूप में आलम्बन करना एक स्थूल आलम्बन है। इस विषय को लेकर समाधि करने पर सूर्य को भासित करने वाली चित्तवृत्ति उसके आकार की होगी, अर्थात् सूर्य से सम्बद्ध, प्रकार दूरत्व आदि से युक्त सम्यग् ज्ञान होगा। यह शब्द आदि से सङ्कीर्ण रहता है, यह सूर्य गोल है, प्रकाशमान है, अतः शब्दार्थ ज्ञान सङ्कीर्ण विकल्पयुक्त स्थूल विषयिणी प्रज्ञा के द्वारा चित्त को उपरञ्जित रहने पर सवितर्क समापत्ति रहती है।

निर्वितर्क समापत्ति :—

सूर्य में चित्त के समाहित होने पर केवल रूप मात्र का ज्ञान होगा। केवल इसके रूप मात्र ज्ञान का प्रत्यक्ष रहने पर सूर्य सम्बन्धी अन्य विषय नाम आदि का विस्मरण रहेगा। अन्य विषय से शून्य अर्थात् शब्दार्थ ज्ञान सङ्कीर्णता शून्य सूर्य रूप मात्र अर्थात् स्वरूप शून्य के समान होकर ध्यान करने पर जो भाव उत्पन्न होता है यही भाव मात्र निर्वितर्क प्रज्ञा है। वाक्यमय चिन्ता से जनित व्यावहारिक गुणों का बाह्य पदार्थ में आरोप कर लौकिक व्यवहार सिद्ध होता है, इस भ्रान्ति को इस रूप में प्रज्ञान को योगी हृदयङ्गम करता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से शून्य प्रज्ञान होता है—यही स्थूल भूत का चरम साक्षात्कार है, इसके द्वारा स्त्री, पुत्र, काञ्चन आदि सम्बन्धी लौकिक मोह को सम्पन्न करने वाली दृष्टि भलीभांति समाप्त हो जाती है। स्थूल विषय सम्बन्धी वाक्य हीन चिन्ता निर्वितर्क ध्यान है। उस ध्यान से चित्त पूर्ण रहने पर निर्वितर्क समापत्ति होती है।

सविचार समापत्तिः—निर्वितर्क विकल्पशून्य ध्यान से सूर्य का साक्षात्कार कर उसकी सूक्ष्मावस्था की उपलब्धि करने की इच्छा होने से योगी अपने चित्त इन्द्रिय को स्थिरतर से स्थिरतम करने पर सूर्य स्वरूप की परम सूक्ष्मावस्था का साक्षात्कार करता है।

ध्येय ग्राह्य विषय में सूक्ष्म से अतिशय सूक्ष्म को समाहित कर अन्त में परमाणु में उपनीत करना पड़ता है।

इन्द्रिय को क्रमशः अधिकतर स्थिर करते-करते जब चित्त अतिशय स्थिर हो जाता है अर्थात् स्थिरता की वह अवस्था आ जाती है; जब बाह्यज्ञान लुप्त हो जाता है, तब जो सूक्ष्म रूप में सूक्ष्मतम विषय का ज्ञान होता है—यह परमाणु ज्ञान है, अर्थात् शब्द आदि तन्मात्रा की सूक्ष्मावस्था ही परमाणु है। यही रूपतन्मात्रा का साक्षात्कार है। श्रुत अनुमान से 'भूत का कारण तन्मात्रा है, यह जानकर विचार पूर्वक चित्त को स्थिर कर सूक्ष्म भूत की उपलब्धि की ओर प्रवर्तित कर देते हैं—यही सविचार समापत्ति है, इसमें शब्द अर्थ और ज्ञान की सङ्कीर्णता रहती है। यह देश काल और निमित्त के द्वारा परिच्छिन्न है। सूर्य की स्थिति के स्थान विशेष है अर्थात् सर्वत्र नहीं है, सूर्य का वर्तमान व्यञ्जकरूप है अर्थात् अतीत अनागत रूप में नहीं एवं सूर्य का चक्षु से ग्राह्य दीप्तिधर्म रूप निमित्त पूर्वक है यह प्रज्ञा होती है, रूपतन्मात्र का साक्षात्कार होने पर नील आदि अनेक रूपों में एकाकार रूप परमाणु का ही योगी प्रत्यक्ष करता है। यह सुख दुःख आदि स्थूल विषयों को अवलम्बन करने पर होता है, एकाकार सूक्ष्म विषय की उपलब्धि से वैषयिक सुख आदि की मात्रा कम होती है।

'यह सुखादिशून्य तन्मात्रा है', 'इसकी इस प्रकार उपलब्धि करनी चाहिए' इत्यादि शब्द आदि विषयों से सङ्कीर्ण प्रज्ञा के द्वारा चित्त के पूर्ण होने पर सूक्ष्म भूत-विषयक सविचार समापत्ति होती है। इस समापत्ति में तन्मात्र अहङ्कार, बुद्धि और अव्यक्त ये सभी गोचर होते हैं।

निर्विचार समापत्ति :—सविचार समापत्ति में कुशलता-सफलता होने पर शब्द आदि की स्मृति समाप्त होती है, केवल सूक्ष्म विषयमात्र की निर्भासक प्रज्ञा होती है, विकल्पहीन ध्येय भावों से चित्त की पूर्णता में निर्विचार समापत्ति होती है। यह देश, काल और निमित्त से अनवच्छिन्न सम्पन्न होती है। अर्थात् सर्व देशव्यापी विषय एवं सर्वकाल व्यापी विषय के साथ ही सभी धर्मों की निर्भासक समाधि है। सविचार में धर्म विशेष को निमित्त कर उसके नैमित्तिक स्वरूप एक विषय की प्रज्ञा है। यहाँ निमित्त-नैमित्तिक-भाव नहीं रहता है, यही इसका निमित्त से अनवच्छिन्न रूप है। यह सूक्ष्म भूत मात्र निर्भासक सविषयक है। यह मन गत अर्थात् इन्द्रियगत प्रकाशशील अभिमान = अहङ्कार या आनन्द मात्र विषयक समापत्ति है। यह इन्द्रिय का कारण भूत 'अस्मिता' स्वरूप है। मैं 'हूँ' यह अस्मितामात्र जो भाव उसको

विषय करने वाली समापत्ति ग्रहीता विषयक निर्विचार है। अलिङ्ग या अव्यक्त प्रकृति को ध्येय विषयकर निर्विचार समापत्ति नहीं होती है। इसमें अव्यक्त ध्येय आलम्बन नहीं है, वरन् यह लीनावस्था या लय की अवस्था है।

वैज्ञानिकों के मनोविज्ञान की गति सविचार समापत्ति तक ही है ॥४४॥

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

निर्विचार समापत्ति को सूक्ष्म विषय पर्यन्त कहा है, सूक्ष्म विषयत्व कहाँ तक है ? इसके उत्तर में कहा है कि जिसका किसी में लय नहीं होता है, जैसे प्रकृति, यह अलिङ्ग है, यहीं सूक्ष्म विषयत्व का अन्तिम = पर्यवसान है। प्रकृति महत्तत्त्व का उपादान है, किन्तु प्रकृति का कोई उपादान नहीं है। पुरुष सूक्ष्म है, किन्तु यह किसी का उपादान नहीं है।

गुणों के परिणाम में चार पर्व माना गया है १ विशिष्ट-लिङ्ग, भूत और इन्द्रियाँ। २ अविशिष्ट-लिङ्ग = तन्मात्र (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) और इन्द्रियाँ। ३ लिङ्गमात्र=बुद्धि, ४ अलिङ्ग = प्रकृति। पुरुष सूक्ष्म होने पर वह सृष्टि में निमित्तमात्र है ॥ ४५ ॥

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

पूर्वोक्त ग्राह्य ग्रहण और ग्रहीता में समापत्ति ही सबीज समाधि है अर्थात् सम्प्रज्ञात योग है। क्योंकि यह सालम्बन योग है। ग्रहण, ग्रहीता, सविकल्पत्व और निर्विकल्पत्व के भेद से चार समापत्ति है एवं सानन्दा और सास्मिता को मिलाकर आठ प्रकार की सबीज समाधि है। विवेकख्याति न होने से बन्धन के बीज वर्तमान होने से यह सबीज समाधि है। कार्य और कारण के अभेद से साक्षात्कार रूप समापत्ति के हेतु योग को भी समापत्ति कहा जाता है ॥ ४६ ॥

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

निर्विचार समाधि के विशेष अभ्यास से ध्येयगत अशेष प्रतिबिम्ब की ग्रहणशीला निश्चल एकाग्रता रूप ही चित्त का वैशारद्य है। क्लेश और वासना से रहित स्थिर प्रवाह के योग्य चित्त होता है। वैशारद्य = निर्मलता। अर्थात् अध्यात्म प्रसाद होता है, बुद्धि में प्रसाद की उपलब्धि होने से पुरुष के साथ योग के बिना भी पुरुष का साक्षात्कार होता है ॥ ४७ ॥

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

सबीज योग से जायमान प्रज्ञा ऋतम्भरा कही जाती है। अध्यात्म प्रसाद से उत्पन्न प्रज्ञा ही ऋतम्भरा है, ऋत अर्थात् नियत जो कभी भी विपर्यय

ज्ञान से आवृत नहीं है, अपितु सत्य को ही धारण करती है, प्रज्ञा लोक से सब कुछ देखता हुआ योगी प्रकृष्ट योग को प्राप्त करता है ॥ ४८ ॥

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यां सामान्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४६ ॥

आगम अर्थात् श्रवण = शब्द ज्ञान एवं अनुमान ज्ञान से सामान्य विषय प्रज्ञा होती है। निर्विचार वैशारद्य से उत्पन्न प्रज्ञा इनसे विलक्षण है, क्योंकि, यह विशेष विषय प्रज्ञा है। शब्द और अनुमान में इन्द्रिय के समान विषय के विशेष ज्ञान कराने का सामर्थ्य नहीं है। सूक्ष्म व्यवहित एवं दूरस्थ विषयों का इस प्रज्ञा से स्फुट भान होता है। अतः इस प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए योगियों को विशेष प्रयत्न करना चाहिए ॥ ४९ ॥

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

इस प्रज्ञा से जायमान अर्थात् एकाग्र साक्षात्कार की धारारूप सम्प्रज्ञात प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार अन्य व्युत्थान = जाग्रत् अवस्था के ज्ञान जनित संस्कारों का प्रतिबन्धक है, अर्थात् उन वृत्तियों का विरोधी है। सम्प्रज्ञात परम्परा से समाधि प्रज्ञा संस्कार की दृढ़ता से दुःख साधन व्युत्थान संस्कार अभिभूत रहते हैं। उनकी समाप्ति धर्ममेघ समाधि से होती है। अतः इसी प्रज्ञा का अभ्यास करें ॥ ५० ॥

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

सम्प्रज्ञात का भी निरोध करने पर अर्थात् प्रविलय होने पर सभी चित्त-वृत्तियों का अपने कारण में प्रविलय होने से संस्कार मात्र से जो वृत्ति उत्पन्न होती है उनका परवैराग्य के द्वारा निरोध होने से अत्यन्त अभिभव हो जाने से चरम असम्प्रज्ञात निर्बीज समाधि होती है। सबका निरोध होने से इसको निर्बीज कहा गया है। चित्त का प्रलय होने पर स्वरूप मात्र प्रतिष्ठित केवली मुक्त कहा जाता है ॥ ५१ ॥
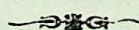
अथ द्वितीयः साधनपादः

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।। १ ।।

तपस्या, स्वध्याय = प्रणवपूर्वक मन्त्रों का जप, ईश्वर प्रणिधान = सभी क्रियाओं का उस परमगुरु में फल निरपेक्ष होकर समर्पण-ये तीन क्रिया-योग हैं ।। १ ।।

ये तीन क्रियारूप योग योग के साधन है। आशय यह है कि मन्द, मध्यम और उत्तम के भेद से तीन प्रकार के अधिकारी हैं। योग की साधना में आरूढ़ होने के लिए इच्छुक = आरुरुक्षु हैं; जो मन्द अधिकारी है। जो अधिकारी योग का सम्पादन करते रहते हैं; वे मध्यम अधिकारी = युञ्जान हैं। जिसने पूर्वजन्म में बहिरङ्ग क्रियायोग साधनों का सम्पादन किया है, वे उन साधनों की इस जन्म में अपेक्षा नहीं रखते हैं = ये योगारूढ़ हैं, जैसे जडभरत आदि।

गीता में इसका विश्लेषण करते हुए लिखा है कि जो इन्द्रिय के विषयों में और न कर्मों में अनुरक्त होते हैं, सभी सङ्कल्पों का जिसने सन्यास कर दिया है—वे योगारूढ़ कहे जाते हैं। ध्येय से अतिरिक्त विषयों से हटाकर चित्त को पुनः-पुनः ध्येय विषय में स्थिर करने का यत्न करना है।[1]

व्युत्थित चित्त मध्यम अधिकारी वानप्रस्थी को दृष्टि में रखकर कहा गया है कि चित्त प्रसाद के अविरोधी शास्त्र में निर्दिष्ट उपवासादि रूप तप, प्रणवादि का जप या मोक्षशास्त्राध्ययन रूप स्वाध्याय, परमेश्वर में सभी कर्मों का अर्पण एवं उन कर्मों के फल का त्यागरूप ईश्वर प्रणिधान ही क्रिया-योग है।

अर्पण का अर्थ करते हुए कूर्मपुराण में लिखा कि—मैं कर्ता नहीं हूँ, सब कुछ सार्वभौम परमेश्वर ही करता है, तत्त्व द्रष्टा की इस भावना को ही ब्रह्मार्पण कहा जाता है[2]। कर्म फल का न्यास अर्थात् सभी कर्म फलों का भोक्ता ईश्वर है—यह ज्ञान है। जब परमेश्वर जीवों को कर्म फलों का भोग कराता हुआ प्रसन्न होता है—तभी ईश्वर को फल भोग होता है। जैसे याचकों को धन देता हुआ दाता उस धन का भोग करने वाला होता है।

---

१. यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसन्यासो योगारूढ़स्तदोच्यते ।। गीता अ० ६ श्लो० ४

२. नाहं कर्ता सर्वमेतद्ब्रह्मैव कुरुते तथा ।
एतद्ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिस्तत्त्वदर्शिभिः ।। कर्म पु०

अथवा—कामना से या अकामना से जो शुभ और अशुभ कर्म करता हूँ, वे सभी तुममे समर्पित है, मैं तुम्हारे द्वारा नियुक्त होकर कर्म कर रेहा हूँ ।

"कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥"

फल के सन्धान के बिना कर्म करना ही फल न्यास है । योग के साधन होने से ये क्रियायें भी योग हैं । आगे यम आदि भी योग साधन होने से योग हैं । मध्यम अधिकारी पुरुष अभ्यास एवं वैराग्य आदि का यथाशक्ति अनुष्ठान करें ।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

यह क्रियायोग समाधि योग का साधन चित्त की एकाग्रता का उत्पादक है, और अविद्या आदि पंच क्लेश जो योग के प्रतिबन्धक है, उनको सत्त्व की शुद्धि के द्वारा कम करने अर्थात् शिथिल करने के लिए है । इसी रूप में ये समाधि के उपकारक होते हैं । विवेकख्याति का प्रतिबन्ध उत्कट है, इसका अवच्छेदक उत्कटत्व है, उसका ही अभाव तनुत्व है । प्रतिबन्धक के अभाव से विवेकख्याति रूप ज्ञान के उदय होने से क्लेश जले हुए बीज के समान फलोत्पादन में अक्षम अर्थात् बन्ध्यात्व को प्राप्त करते हैं । क्लेशों के वन्ध्य होने से चित्त का अधिकार समाप्त होने से वह विलीन होता है ॥ २ ॥

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ ३ ॥

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांच क्लेश हैं ॥ ३ ॥

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

सभी क्लेशों के समान होने पर भी मूलभूत होने से अविद्या की प्रधानता कही गई है—

अविद्या = मोह अर्थात् अनात्मत्व का अभिमान है । अस्मिता आदि जो चार हैं, उनमें प्रत्येक की यही अविद्या उत्पत्ति स्थान है । अतः अविद्या जो विपरीत ज्ञानस्वरूप है; उसकी शिथिलता से अस्मिता आदि क्लेशों का उद्भव नहीं होता है । विपर्यय ज्ञान रहने पर इनकी उत्पत्ति होती है, अतः अविद्या ही मूलभूत है ।

यह सत्य है कि अन्तः करण ही सबका उत्पत्ति स्थान है, किन्तु अविद्या के रहने से इनकी उत्पत्ति और न रहने पर उत्पत्ति का न होना इस अविना-भाव रूप से और उनसे सम्बद्ध होने से उपादान का साधर्म्य अविद्या में है, अतः निमित्त कारण स्वरूप अविद्या में अस्मिता आदि का गौण प्रसव

भूमित्व है। अर्थात् मैं और यह मेरा यह अविद्या विषय जहाँ रहता है—वहीं राग और द्वेष रहता है, जो क्लेश रहकर भी प्रबोधक के अभाव में अपने कार्य को आरम्भ नहीं करते हैं, वे क्लेश सुप्त कहे जाते हैं। जैसे बाल्यावस्था में वासना रूप में स्थित भी क्लेश प्रबोधकरूप सहाकारी कारणों के अभाव में अभिव्यक्त नहीं होते है। अथवा ज्ञान रूपी अग्नि से जलने के कारण अव्यक्तावस्था होने से कार्य के प्रति उन्मुख नहीं रहते हैं। विवेक ज्ञान रूप अग्नि से दग्ध होने पर कभी भी कार्योन्मुख नहीं होते है। यह पाँचवीं भूमि है।

अपनी विरोधी भावनाओं से उनके कार्य के सम्पादन करने की शक्ति वासना = संस्कार के रूप में चित्त में शेष रहने के कारण विशेष अर्थात् सहकारी सामग्रियों के न रहने से कार्यारम्भ करने में असमर्थ रहती है। अतः विच्छिन्न अर्थात् बलवान् किसी क्लेश से अभिभूत शक्ति के रूप में स्थित रहते हैं। जैसे राग के विषय में द्वेष और द्वेष के विषय में राग होने से क्रोधावेश से प्रिय वस्तु का भी त्याग करता है। अथवा अन्य विषय के प्रति राग से दूसरे विषय के प्रति राग हट जाता है। ये उदार रहते हैं अर्थात् अविद्या के रहने पर सहकारी कारणों की उपस्थिति रहने पर ये चारों क्लेश अपने-अपने कार्यों का सम्पादन करते हैं। अर्थात् विषय को वृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं॥ ४॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या॥ ५॥

जो वस्तु जैसी नहीं है उस वस्तु का उस रूप में ज्ञान अविद्या है। अर्थात् अन्य वस्तु का अन्यरूप में ज्ञान। जैसे अनित्य घट, पृथिवी, देवता आदि में नित्यत्व, ध्रुवत्व, अमरत्व का ज्ञान, अशुचि अर्थात् अपवित्र शरीर आदि में पवित्रता का अभिमान कर देवता आदि के लिए कर्म का सम्पादन कर मनुष्य बन्धन में पड़ता है। व्यास जी ने इसी का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

मलमूत्र युक्त माता का उदर स्थान है, शुक्रशोणित बीज है, अन्न परिणाम श्लेष्मादि रूप उपष्टम्भ सभी रोमादि द्वारों से मलों का निकलना रूप निष्यन्द और मृत्यु के कारण शरीर अत्यन्त अपवित्र है, स्नान अनुलेपन एवं कामिनियों के अङ्गरागों से सुगन्धित जलादि से आधेय की शौचता कान्ता आदि के मुख में चन्द्रत्वबुद्धि, अपुण्य हिंसादि में पुण्य ज्ञान, अर्जन आदि दुःख बहुल होने से अनर्थभूत धनादि में अर्थज्ञान सुखत्वज्ञान, अनात्मभूत पुरुषरूप चौबीसवें तत्त्व में आत्मत्व बुद्धि अर्थात् अन्य में दूसरे के धर्म का भान होना अविद्या है॥ ५॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतै(ते)वास्मिता ॥ ६ ॥

द्रष्टा पुरुष रूप शक्ति (दृक्) दर्शन बुद्धि (जिससे देखा जाय) रूप शक्ति (अर्थात् प्रलय में कार्य उत्पन्न न होने से फलोपधान के अभाव से दर्शनशक्ति बुद्धि को कहा है) इन दोनों जड चेतन रूप में सर्वथा भिन्न होने पर भी धर्म और स्वरूप से एकात्म के समान एकाकार बुद्धि अस्मिता है। बुद्धि आदि में भेद और अभेद सहिष्णु अविद्या है, अत्यन्त भेद का ग्रहण न होने से, भेद का तिरस्कार करने से अस्मिता है, परिणामित्व अपरिणामित्व आदि धर्मों से दोनों में भेद ही है। अस्मिता के रहने पर ही योग सम्भव है भोग्यशक्ति बुद्धि अशुद्ध, अनुदासीन, जड है भोक्तृशक्ति पुरुष सदा शुद्ध, उदासीन और चैतन्य रूप है ॥ ६ ॥

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

अस्मिता पूर्वक ही राग होता है, अतः अस्मिता के बाद राग का निरूपण है—सुख और उसके साधन में तृष्णारूप क्लेश राग है ॥ ७ ॥

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

स्मर्यमाण सुख में सुखस्मृति पूर्वक राग होता है। दुःख और उसके साधन में अभिलाषा न होना या उसके प्रति निन्दात्मक क्रोध होना द्वेष है ॥ ८ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ६ ॥

पूर्वजन्मानुभूत के संस्कार से विद्वान् को या मूर्ख को प्रसिद्ध शरीर विषय आदि का वियोग अर्थात् मृत्यु न हो मैं जीवित रहूँ—यह भय ही अभिनिवेश है ॥ ९ ॥

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

जन्मान्तर में अनुभूत मरण त्रास के स्मरण जन्य भय से यह इच्छा होती है।

क्लेश ही संसार के कारण है। अज्ञात क्लेशों का नाश सम्भव नहीं है, वासना रूप से स्थित हैं, वे जिन वृत्तिरूप परिणामों का आरम्भ नहीं किया है, वे त्यागने योग्य सूक्ष्म क्लेश चित्त के प्रलय के द्वारा सर्वथा विनष्ट हो जाते हैं, अर्थात् अपने कारण में प्रतिप्रसव = प्रतिलोम क्रमसे जब चित्तलीन हो जाता है तब धर्मी के अभाव में निर्मूल अस्मिता रूप प्रकृति में लीन चित्त होने से वे हेय हो जाते हैं एवं जिनका कार्य आरब्ध हो चुका है ऐसे क्लेशों की जो सुखदुःखमोहात्मक वृत्तियाँ होती हैं, वे ध्यान के द्वारा निवृत्त हो जाती हैं ॥ १० ॥

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

शिथिलीकृत वृत्तियों के नाश का उपाय प्रदर्शन करते हुए कहा गया है कि क्लेशों की स्थूल अभिव्यक्त वृत्तियाँ जो क्रियायोग के द्वारा शिथिल कर दी गई हैं, वे चित्त की एकाग्रता रूप ध्यान के द्वारा साक्षात्कार की धारा से प्रतिबद्ध होकर जलाये हुए बीज के समान कार्य के उत्पादन में अक्षम हो जाती हैं। अर्थात् अभिव्यक्ति रूप उत्पत्ति के प्रतिबन्ध से पुनः वासना की उत्पत्ति नहीं होती है। क्लेशों के बीज की शक्ति का दाह वासना रूपी सहकारी के उच्छेद से होता है, जैसे धान आदि के बीज की शक्ति का नाश उनके रसरूप सहकारी के उच्छेद से होता है। क्रियायोग से क्लेशों का शैथिल्य विवेकाभ्यास के प्रतिबन्ध उपस्थित करने की क्षमता का नाश करना है। निर्विध्नविवेकज्ञान प्रवाह के सम्पन्न होने से निःशेष अविद्यावासना का उच्छेद होने पर जले हुए बीज के समान अनागत अवस्था युक्त क्लेश चित्त के साथ विलीन हो जाता है।

पूर्वोक्त क्लेशों की सुख, दुःख एवं मोह स्वरूप स्थूल एवं अभिव्यक्त अवस्था की वृत्तियों की प्रथम क्रियायोग के द्वारा तनुता अर्थात् कृशता की प्राप्ति होने पर उनका आत्म साक्षात्कारात्मक या चित्त की एकाग्रता स्वरूप ध्यान से त्याग करना चाहिए, अर्थात् दग्ध बीज के समान कार्यों के उत्पादन के सामर्थ्य को समाप्त करना चाहिए। वस्त्र के अतिशय स्थूल मलों को भी धोने से निवृत्त किया जाता है। साबुन आदि से मल की कमी हो जाने पर मल की वासना वस्त्र के नाश के साथ ही नष्ट होती है। अर्थात् अभिव्यक्ति स्वरूप जो उत्पत्ति है, उसका प्रतिबन्धन हो जाने से पुनः वासना की उत्पत्ति नहीं होती है। क्लेशों की बीज शक्ति का दाह उसके सहाकारी रस का नाश करना है।

आशय यह है कि क्रियायोग से क्लेशों के कृश होने पर विवेकाभ्यास के रोकने की क्षमता उसमें नहीं रह जाती है, अतः निर्विघ्न विवेकख्याति प्रवाह की परम्परा के सम्पन्न होने से अशेष अविद्यावासना के नाश से भविष्य में होने वाले क्लेश जलाये गये बीज के समान चित्त में लय हो जाते है। अर्थात् चित्त के नाश के साथ सूक्ष्म वासना भी नष्ट हो जाती है ॥ ११ ॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

कर्माशय का स्वरूप एवं तत्त्वनिरूपण के लिए इस सूत्र का उल्लेख किया जा रहा है।

जाति, आयु और भोग फल हैं इनका कारण क्लेश है, वासनात्मक कर्मों

का स्वरूप कर्माशय शब्द से कहा है। अविद्या मूलक कर्माशय जाति आदि का साधन है, अतः अविद्या आदि क्लेश साधन को भी क्लेश शब्द से कहा गया है। क्रिया योग से क्लेश को शिथिल कर देने पर कर्माशय अर्थात् शुभाशुभ कर्म उत्पन्न नहीं होते हैं कर्माशय के अभाव में कारण के अभाव से जाति, आयु और भोगों की उत्पत्ति नहीं होती है।

वासनारूप ही कर्म है। वर्तमान और भावी जन्म का भोग्य धर्माधर्म समूह क्लेश का कार्य है। जिसमें सांसारिक व्यक्ति स्थित होते है—वे आशय है (आशेरते सांसारिका पुरुषा अस्मिन्निति आशय) यह कर्मों का धर्माधर्म रूप संस्कार है। काम, क्रोध आदि क्लेश इसके कारण है, इसीलिए क्लेश मूलक कर्माशय कहा है। यह कर्माशय दो प्रकार का है—(१) दृष्ट जन्म वेदनीय और (२) अदृष्ट जन्म वेदनीय।

(१) जिस शरीर से कर्म किया है, उसी शरीर से भोगने योग्य। जैसे :—नन्दीश्वर ने बाल अवस्था में ही मनुष्य शरीर से तीव्र संवेग पूर्वक महेश्वर का आराधन मन्त्र जप, तपस्या एवं समाधि के द्वारा सम्पादन कर उसी शरीर से देवत्व जाति, दीर्घ आयु, और दिव्य भोगों को प्राप्त किया है। इसी प्रकार विश्वामित्र ब्राह्मणत्व जाति और दीर्घ आयु को प्राप्त किया है। नहुष ने महर्षि का अपराध कर इसी शरीर से सर्प योनि को प्राप्त किया है।

(२) स्वर्ग नरक आदि की प्राप्ति का साधन कर्म है। इस प्रकार वर्तमान और भावी शरीर से भोग्य वासनात्मक क्लेश मूलक कर्माशय है ॥ १२ ॥

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

धर्म और अधर्म के कारण क्लेश के रहने पर उनका फल, जन्म, जीवन-समय (आयु), सुखदुःख और मोहात्मक वृत्तियाँ भी होती हैं। मुख्य फल भोग है। यह भोग जन्म और आयु के बिना सम्भव नहीं है। भोग से विषय, इन्द्रियां, सुखसंवित् और दुःख संवित् का ग्रहण है। भुनक्ति यं स भोगः विषय है। भुनक्ति अनेन इति भोगः इन्द्रिय आदि।

चित्त भूमि में अनादि काल से सञ्चित कर्म वासनायें जैसे-जैसे पाक अवस्था अर्थात् फल सम्पादन की अवस्था को प्राप्त करती है, उसी क्रम में प्रधान और अप्रधान भाव से जन्म आयु और भोग को उत्पन्न करते है।

विवेकज्ञान होने पर जले हुए बीज के रूप में ही क्लेश का अस्तित्व रहता है। विपाक = फल की प्राप्ति। सम्पूर्ण अविद्या का नाश होने पर भी जीवन्मुक्तों के लिए प्रारब्ध भोग उत्पन्न होते हैं।

एक कर्म एक जन्म का कारण नहीं है। क्योंकि एक ही जन्म में विचित्र-विचित्र सुख और दुःख की अनुभूतियाँ होती हैं। अनादि काल से अनेक जन्मों से अर्जित असंख्य कर्मों में एक जन्म में उपयुक्त एक कर्मों के अशेष फलों की प्राप्ति सम्भव नहीं है। सभी कर्मों के फल दान में प्रतिबन्ध होने पर कर्मों के अनुष्ठान में विश्वास नहीं रहेगा। एक ही कर्म को अनेक जन्म का निमित्त मानने पर अन्य कर्मों के विपाक के समय का अभाव होने से उनको निष्फल मानना पड़ेगा, फलतः उनका अनुष्ठान व्यर्थ होगा अतः उद्भूत क्रम से कर्म फल जनक होते है।

कर्माशय दो प्रकार के है—(१) आरब्ध फल वाले और (२) अनारब्ध फल वाले। एक जन्म में होने वाले आरब्ध फलक है। अनारब्ध फल कर्म तीन प्रकार के हैं—(१) शुक्ल, (२) कृष्ण, (३) शुक्लकृष्ण।

(१) परपीडा रहित तप, स्वाध्याय आदि शुक्ल कर्म हैं, उसके उदय से दोनों अनारब्ध नष्ट हो जाते हैं। (२) यज्ञान्तर्गत पशुहिंसा आदि से जन्य पाप कृष्ण कर्म है। अनारब्धफलक कर्म प्रधान कर्म के विपाक के साथ फल प्रदान करते हैं। क्योंकि प्रधान के अङ्ग के रूप में इनका विधान है। वे ही यज्ञ आदि कृष्ण शुक्ल हैं। कतिपय अनारब्ध फलक आरब्ध विपाक से अभिभूत चिरकाल तक अवस्थित रहते हैं; जब तक उनके अभिव्यञ्जक काल नहीं आ जाते हैं।

इस प्रकार कर्म की गति विचित्र और दुर्विज्ञेय है ॥ १३ ॥

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

जन्म, आयु और भोग सुख और दुःख फल वाले हैं, क्योंकि पुण्य और अपुण्य (पाप) इनके साधन हैं। पुण्य से सुख और अपुण्य से दुःख होता है ॥ १४ ॥

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥

योगियों की दृष्टि से सभी दुःख रूप हैं। क्लेश आदि के विवेक-ज्ञान-सम्पन्न व्यक्तियों के लिए दृश्यमान सभी भोग साधन विषयुक्त स्वादिष्ट अन्न के समान प्रतिकूल वेदनीय होने से दुःख स्वरूप हैं। जिस प्रकार नेत्र में अणुमात्र तृण के स्पर्श से भी दुःख होता है। किन्तु अन्य अङ्ग में नहीं होता है; वैसे ही ज्ञानी योगी दुःख लेश से भी उद्विग्न होते हैं। अतः विवेकी थोड़े दुःख से भी उद्विग्न हो जाते है।

उपयोग किये गये विषय तृष्णा की वृद्धि के साधन हैं, अतः उनकी अप्राप्ति से जायमान दुःख अवश्यम्भावी है। इस प्रकार सुख अन्य दुःख का

कारण में होने से परिणाम में कर्म दुःख स्वरूप है। क्योंकि विषयों के सुख भोग के साथ ही तृष्णाग्नि की वृद्धि होती है और काम्य वस्तु की प्राप्ति न होने पर दुःख होता है। लाभ होने पर भी कुछ कमी होने पर सङ्कोचक के प्रति द्वेष होता है। अतः काम और द्वेष से पाप की वृद्धि होने से दुःख होता है। यदि कमी न की जाय तो व्याधि और पाप के कारण सुख के परिणाम को दुखद मानना होगा।

तापदुःखता—

सुखभोग के समय सुख के विनाश के भय से दुःख होता है और सुख के नाशक के प्रति द्वेष होने से भोग में तापदुःखता है।

संस्कार दुःखता—

सुखभोग के नाश होने पर संस्कार होता है; संस्कार से उसका स्मरण होता है; स्मरण से राग होता है, राग से पुण्य और अपुण्य की वृद्धि होने से पुनः पुनः सुख-दुःख के भोग का प्रवाह चलता रहता है, इस प्रकार अनन्त प्रवाह चलता है। भोग के नाश होने पर संस्कार न होगा और न दुःख सन्तति होगी, किन्तु संस्कार होता है, अतः सुखभोग में संस्कारदुःखत्व है। इसलिए ये दुःख योगियों के लिए आँख में पड़े हुए तृण के समान उद्वेजक हैं, उनका तन्तु भी आँख के लिए ही उद्वेजक होता है अन्य अङ्गों के लिए नहीं होता है, अतः योगियों के लिए सभी भोग दुःख और दुःख साधन हैं। क्योंकि चित्त के रूप में परिणत सत्त्व रज और तम की वृत्तियाँ सुखदुःख मोहात्मक हैं। अतः गुण परिणामात्मक जगत् दुःख सुख मोहात्मक होने से हेय है। सत्त्व की प्रधानता के समय अस्फुट दुःखात्मक और सत्त्व के अभिभव होने पर स्फुट दुःखात्मक होता है। सभी परिणाम ताप और संस्कार दुःख आदि अन्त या मध्य काल में प्रतिकूल वेदनीय ही रहते हैं ॥ १५ ॥

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

अतीत दुःख तो समाप्त हो गया अर्थात् स्वयं नष्ट हो गया। वर्तमान अनेक समय साध्य साधनों के अनुष्ठान से पूर्व ही तृतीय क्षण में स्वयं नष्ट हो जाता है। अतः अनागत अर्थात् भावी दुःख ही हेय है।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

हेय के साधन का निरूपण कर रहे हैं—

द्रष्टा = चिद्रूप पुरुष का सुखदुःख मोहात्मक सम्पूर्ण दृश्य के आकार में दृश्यरूप बुद्धि में प्रतिबिम्बित स्वरूप जो पुरुष का संयोग है, अर्थात् भोग्य-भोक्तृत्व का नियामक जन्म अर्थात् उभय का सन्निधान यही दुःख का

हेतु है। पुरुष का द्रष्टृत्व भोग्य का भोक्तृत्व या अपना स्वामित्व है। यहाँ संयोग अनादि है। क्योंकि यह अनादि अविद्या से उत्पन्न है। प्रत्येक सर्ग में अन्तःकरण के साथ प्रकृतिसाम्य प्राप्त कर सर्ग के आरम्भ में पुनः काल वश वैसा ही हो जाता है। अर्थात् परस्पर अविवेक ख्याति पूर्वक संयोग अर्थात् चित् प्रतिबिम्बित पुरुष के अभेदरूप में दृश्यमान सानिध्य अयस्कान्त मणि के समान उपकारक पुरुष को अपने में स्थित भोग और अपवर्ग को दखाकर स्वामित्व पुरुष का होता है। यह अविद्या कृत संयोग ही हेय दुःख किहेतु है ॥ १७ ॥

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥१८॥

दृश्य के स्वरूप का निरूपणः—

सत्त्व प्रकाश स्वरूप है, अतः बुद्धिवृत्तिस्वरूप सत्त्व आलोक शील है, प्रयत्न चेष्टादिशील रजः है, प्रकाश और क्रिया का प्रतिबन्धन रूप तमः है, ये तीनों गुण ही परस्पर आश्रित होकर कार्य उत्पन्न करते हैं। किसी कार्य में सत्त्व की प्रधानता किसी कार्य में रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता रहती है। एक के प्रधान रहने पर अन्य उसके सहकारी रहते हैं। जैसे दिव्य शरीर की उत्पत्ति के समय सत्त्व की प्रधानता, मनुष्य शरीर की उत्पत्ति में रजोगुण की प्रधानता, पक्षियों के शरीर की उत्पत्ति में तमोगुण की प्रधानता रहती है। ये पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए सामीप्यमात्र से उपकारक के रूप में स्थित प्रवृत्त होते हैं। स्थूल सूक्ष्म भूत के कारणत्व रूप से स्थिति शीलता, स्थूल दश इन्द्रियों की साधनता से क्रियाशीलता, अन्तःकरण रूप सूक्ष्म इन्द्रिय की साधनता रूप प्रकाश रूपता से सुखदुःख स्वरूप बुद्धि का पुरुष के साथ अविभक्त रूप में अवधारण भोग है, भोक्ता का स्वरूप अवधारण अपवर्ग है। ये दोनों अर्थात् भोग और अपवर्ग बुद्धिकृत है अर्थात् बुद्धि में ही वर्तमान हैं, किन्तु योद्धाओं में रहनेवाली जय और पराजय का जिस प्रकार राजा में आरोप होता है, वैसे ही प्रकृत में बुद्धि का भाग और अपवर्ग पुरुष में अविवेक ज्ञान से आरोपित है, विवेकख्याति पूर्वक संसार की निवृत्ति ही अपवर्ग है। दृश्य का यही प्रयोजन है। स्थूल और सूक्ष्म के भेद से पृथिवी जल आदि एवं रूप रस गन्ध आदि भूत है। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण के भेद से तीन प्रकार की इन्द्रियाँ है। ये दोनों ही ग्राह्य और ग्रहण स्वरूप से अभिन्न परिणाम वाली है ॥ १८ ॥

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

अनेक अवस्था के रूप में परिणत गुणों की अर्थात् हेय गुणों के चार पर्व

अर्थात् अवस्था का निर्देश करने के लिए इस सूत्र की अवतारणा पतञ्जलि ने की है :—

सत्व, रजः, और तमोगुणात्मक वृक्ष के पत्र, शाखा, अङ्कुर और बीज के समान अवस्था के भेद से भिन्न ये पर्व गुणों से अत्यन्त भिन्न नहीं हैं। विशेषः- आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी पाँच स्थूलभूत, नासिका, नेत्र कान, जिह्वा, त्वक् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाणी, पाद, पायु, उपस्थ, हाथ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन ये सोलह विकृति या विकार विशेष हैं। ये किसी की प्रकृति नहीं हैं, क्योंकि इनसे किसी की सृष्टि नहीं होती है। इन सोलह विकारों में शान्त, घोर और मूढ़ ये तीन विशेष वर्तमान हैं। प्रदर्शित तीन विशेषों से शून्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्र और अहङ्कार ये अविशेष हैं। सभी पुरुषार्थों का शब्द आदि भोग एवं सत्व पुरुष के विवेक अर्थात् भेद का ज्ञान का गमन अर्थात् लय होने से महत्तत्व लिङ्ग है। अव्यक्त अर्थात् तीन अर्थों का गमक होने से महत्तत्व रूप बुद्धि लिङ्ग है और कहीं भी लय न होने से अव्यक्त या प्रकृति अलिङ्ग है यह प्रकृति गुणों की साम्य अवस्था है। यदि यह भोग आदि स्वरूप पुरुषार्थ का हेतु रहता तो प्रधान या अव्यक्त साम्यवस्था नहीं रह सकती है। अतः यह नित्य है महत् आदि अवस्था पुरुषार्थ साधन है। अतः अनित्य है। इनकी उत्पत्ति और लय के कारण गुणों की उत्पत्ति और लय का व्यवहार होता है, स्वतः उसकी उत्पत्ति और लय नहीं होता है, जैसे धन के नाश से देवदत्त नष्ट हो गया—यह व्यवहार होता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति का सर्वत्र अन्वय होने से अवश्य ज्ञातव्य के रूप में योग में चार पर्वों का निर्देश किया गया है ॥ १९ ॥

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

द्रष्टा पुरुष चेतन स्वरूप है। ज्ञान धर्म उसमें नहीं है अर्थात् वह ज्ञात स्वरूप है, किन्तु शुद्ध अर्थात् निर्विकार होने से विषय में उपरक्त रूप से इसका प्रतिसंक्रमण न होने पर भी विषय में उपरक्त बुद्धि के सान्निध्य अर्थात् साक्षित्व होने से ही पुरुष द्रष्टा है। शुद्ध अपरिणाम पुरुष बौद्ध ज्ञान को देखता है, क्योंकि प्रतिबिम्ब के कारण तदात्मभूत के रूप में प्रतिभासित होता है। यही पुरुष का द्रष्टृत्व है ॥ २० ॥

तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा ॥ २१ ॥

द्रष्टा का भोग और अपवर्ग रूप फल ही दृश्य का स्वरूप कार्य कारणात्मक तीन गुण है, ये अपने प्रयोजन के लिए नहीं है ॥ २१ ॥

दृश्य का कार्यकारणात्मक एवं सत्त्वादि तीन गुण अपने लिए नहीं हैं अपितु द्रष्टा के भोग और अपवर्ग के लिए ही है। क्योंकि दृश्य ही पुरुष का भोग्य है। रूप शब्द आदि सुख और दुःख रूप होने से ये अनुकूल और प्रतिकूल अनुभव कराते हैं।

पुरुषार्थ तक दृश्य की अनुवृत्ति होती है और अन्त में निवृत्त हो जाते हैं, अतः, स्वार्थ के लिए दृश्य नहीं है। अचेतन होने से चेतन के लिए ये हो सकते हैं। स्वस्वामिभावरूप सम्बन्धाङ्गता ही दृश्य का द्रष्टा के प्रयोजन के लिए ये हैं—यह सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

पुरुष का भोग सम्पादन ही प्रकृति का प्रयोजन मानने पर भोग सम्पादन के बाद वह निष्प्रयोजन अर्थात् विरत व्यापार होगी, विषय परिणाम रहित विरत व्यापार होने पर शुद्ध होने से सभी द्रष्टा शुद्ध बन्ध रहित हो जायेंगे, बन्ध रहित होने पर संसार का उच्छेद प्राप्त होता है—इस दृष्टि से इस सूत्र की अवतारणा की है—

पुरुष का भोग और अपवर्ग का सम्पादन ही प्रधान का प्रयोजन है, अतः, अपना प्रयोजन सम्पन्न हो जाने पर वह निष्प्रयोजन व्यापार रहित एवं विषम परिणाम रहित हो जायेगी, फलतः शुद्ध हो जाने से सभी बन्धन रहित हो जायेंगे और संसार का उच्छेद हो जायेगा। कृतार्थ अर्थात् समाप्त पुरुषार्थ के लिए प्रयोजन के अभाव में गुणादि का तिरोभाव होने पर भी अर्थात् अर्थ-क्रिया-कारिता-शून्यत्व की सम्पन्नता होने पर भी अकृतार्थ अन्य पुरुषों की दृष्टि से प्रकृति की स्थिति और प्रवृत्ति बनी रहती है। अतः एक की मुक्ति होने पर भी सभी की मुक्ति का प्रसङ्ग नहीं है ॥ २२ ॥

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

दृश्य और द्रष्टा की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखा गया है कि स्व = दृश्य की शक्ति जड होने के कारण दृश्यत्व योग्यता, स्वामी पुरुष की शक्ति चेतनत्व होने से द्रष्टृत्व योग्यता-ये दोनों शक्तियाँ स्वरूपात्मिका है। वस्तुतः प्रलय में भोग्यत्व और भोक्तृत्व नहीं रह जाता है, अतः शक्ति शब्द का प्रयोग किया है। संवेद्य और संवेदक के रूप में व्यवस्थित इन दोनों की दृश्य और पुरुष स्वरूपों की उपलब्धि है, विषय भोग्य और भोक्तृरूप उपलब्ध है—उसका हेतु स्वस्वामिभाव रूप है, वही संयोग है। यह स्वाभाविक भोग्य और भोक्तृ भाव से पृथक् स्वरूप नहीं है। इन दो का नित्य और व्यापक स्वरूप से अतिरिक्त कोई संयोग सम्भव ही नहीं है।

संयोग सार्वकालिक होने से हेय का कारण नहीं होने से ज्ञान से निवर्त्य नहीं है। भोग्यत्व और भोक्तृत्व अनादि सिद्ध है—यही संभोग है। सम्यग्दर्शन से भोग कारण अविद्या का उच्छेद होने पर भोगाभाव रूप बन्धाभाव होता है, अर्थात् जिसके अभाव में दृग्दृश्य के स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती है और जिसके रहने से होती है—वह स्वस्वामिभाव रूप संयोग कार्य के द्वारा अवगत है ॥ २३ ॥

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

जन्मरूप द्रष्टा और दृश्य के संयोग का कारण अविद्या है। विपर्यय स्वरूप मोहात्मिका ही अविद्या है। इससे सुख में राग और दुःख से उद्वेग की प्रतीति से मानव एक की प्राप्ति और दूसरे से छुटकारा पाने के लिए दौड़ रहा है। संयोग से अविवेकी का बन्ध और विवेकी का मोक्ष होता है। अविद्या की वासना के कारण ही प्रलय में मुक्ति नहीं होती है, विवेकख्याति धर्ममेघरूप निष्ठा की प्राप्ति से दग्धबीज तुल्य सवासन चित्त की निवृत्ति होने से स्वरूप मात्र में पुरुष की स्थिति मोक्ष है ॥ २४ ॥

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

अविद्या का अभाव होने पर बुद्धि और पुरुष का संयोग रूप अविद्या के कार्य का नाश हो जाता है। संयोग के न रहने पर बन्धन की निवृत्ति होती है अर्थात् जन्म रूप संयोग की अत्यन्त निवृत्ति होती है, जन्म की निवृत्ति होने पर दुःख का अत्यन्त उपशम रूप मोक्ष होता है। यही नित्यमुक्त पुरुष का कैवल्य है ॥ २५ ॥

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

प्रकृति अन्य है अर्थात् बुद्धि अन्य है, और पुरुष अन्य है, इस प्रकार भेद का ज्ञान ही पूर्वोक्त हान का उपाय है। यह विवेकख्याति वशीकार वैराग्य विशुद्ध अर्थात् रजोगुण और तमोगुण रूपी मल से रहित प्रज्ञा से संस्कृत ऐकाग्र्य से युक्त सत्त्व से निर्मल = अर्थात् अविप्लव अर्थात् कर्तृत्व, ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व आदि रजोगुण तमोगुण रूपी मल से अनभिभूत बुद्धि का अन्तर्मुख चैतन्य छाया का संक्रमण ही विवेकख्याति है। इसकी विच्छेद रहित प्रवृत्ति ही दृश्य निवृत्ति रूप कैवल्य है ॥ २६ ॥

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिप्रज्ञा ॥ २७ ॥

विवेकख्याति रूप हानोपाय की प्रान्त-भूमिका-रूपिणी प्रज्ञा अर्थात् योग से उत्पन्न साक्षात्कार स्वरूप सात प्रकार की है।

१—हेय दुःख का परिज्ञान कर लिया है; ज्ञातव्य कुछ शेष नहीं है; यह प्रथम भूमिका है।

२—विवेकख्यातिरूप हानोपाय सम्पादन कर लिया है, सम्पादन करने योग्य अब शेष नहीं है। क्योंकि उसके फल का अनुभव हो रहा है—यह द्वितीय प्रज्ञा है।

३—त्यागने योग्य वस्तु का साधन अविद्या काम्यकर्म आदि सर्वथा नष्ट हो गये हैं, त्याग करने योग्य अब कुछ अवशिष्ट नहीं हैं—यह तृतीय भूमिका है।

४. दु.ख हानरूप मोक्ष फल एवं असम्प्रज्ञात योग का साक्षात् कर लिया है, पुरुषार्थ का भी ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं है।

५—मेरी बुद्धि भोग और अपवर्ग को समाप्त कर लेगी।

६—बुद्धि रूप से परिणत सत्त्व आदि अपने कारण में लीन हो जावेंगे।

७—प्रलीन सत्त्वादि का बुद्धि रूप परिणाम नहीं होगा।

इन सात प्रकार के अनुभव से ज्ञान निष्ठा सद्यः मुक्ति होती है, अर्थात् स्वस्वरूप गुणातीत, विमल, केवली पुरुषात्मक चित्त वृत्ति होती है॥ २७॥

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥ २८॥

आगे कहे जाने वाले योगाङ्गों के अनुष्ठान से = ज्ञान पूर्वक अभ्यास से विवेक-ख्याति-पर्यन्त अशुद्धि का नाश होने पर चित्त सत्त्व का प्रकाश आवरणरूप क्लेशात्मक अशुद्धि का नाश होने से ज्ञान दीप्ति अर्थात् सात्त्विक परिणाम होता है, विवेक ख्याति ही ज्ञान का चरम परम उत्कर्ष है॥ २८॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि॥२९॥

धारण आदि योग के साक्षात् उपकारक होने से अन्तरङ्ग हैं और यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, हिंसा आदि वितर्क के ही नाशक होकर बहिरङ्ग अङ्ग है। ये आठ—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं। इनकी क्रमशः एक की दूसरे के प्रति उपकारिता भूमिका से अवगत करें। ये क्लेश रूपी अशुद्धि के नाशक हैं और विवेक प्राप्ति के साधन हैं॥ २९॥

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ ३०॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह ये पाँच यम हैं, प्राणियों के प्रति द्रोह हिंसा है, वाणी और मन की यथार्थता सत्य है, अर्थात् दूसरे के हित के लिए यथार्थ कथन सत्य है। अन्य का स्वत्व जिस पर है उनका ग्रहण न करना अस्तेय है। स्त्री का स्मरण, कीर्तन, केलि प्रेक्षण, एकान्त भाषण,

संकल्प, अध्यवसान क्रिया सम्पादन इन आठ अङ्गों वाले मैथुन का परित्याग ब्रह्मचर्य है।

देह यात्रा के लिए अपेक्षित भोग साधनों से अतिरिक्त साधनों का अस्वीकार अपरिग्रह है ॥ ३० ॥

एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

ये अहिंसा आदि यम जाति, देश काल और समय से अनवच्छिन्न सार्वभौम महाव्रत हैं। जाति से परिच्छिन्न अहिंसा ब्राह्मण को नहीं मारूँगा, तीर्थ में नहीं मारूँगा—यह देश परिच्छिन्न अहिंसा है। चतुर्दशी को नहीं मारूँगा—यह काल परिच्छिन्न अहिंसा है, युद्ध से अतिरिक्त समय में नहीं मारूँगा यह समय से परिच्छिन्न अहिसा है, किन्तु कहीं नही मारूँगा, कभी नहीं मारूँगा, किसी प्राणी को नहीं मारूँगा; किसी भी समय नहीं मारूँगा यह अपरिच्छिन्न अहिंसा सार्वभौम अहिंसा है, इसी प्रकार सत्य आदि में भी समझना चाहिए, ये सार्वभौम व्रत महाव्रत हैं ॥ ३१ ॥

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम हैं। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से शौच दो प्रकार का है। मिट्टी, जल आदि से शरीर को स्वच्छ करना बाह्य और पञ्च गव्य या मैत्री आदि से चित्त के मलों का प्रक्षालन करना आभ्यन्तर साधन शौच है। उपस्थित भोगसाधनों से अधिक का ग्रहण न करने की इच्छा सन्तोष है। चान्द्रायणादि व्रतों का अनुष्ठान भूख, प्यास एवं शीत गर्मी में स्थान आसन रूप द्वन्द्व का सहन तप है। मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन एवं प्रणव जप स्वाध्याय है। परमेश्वर में सभी कर्मों का अर्पण एवं पूजन आदि ईश्वर-प्रणिधान है ॥ ३२ ॥

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

योग विरोधी हिंसा आदि वितर्कों से प्रतिपक्ष भावना अर्थात् हिंसा आदि अनन्त दुःख प्रद है, ये अनन्त अज्ञान के साधन हैं—इस रूप की भावना से यम आदि योग के अङ्ग है ॥ ३३ ॥

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

हिंसा आदि वितर्क यम नियम के विरोधी हैं। यह वितर्क स्वयं किया गया, कराया गया, और अनुमोदन किया गया होता है। स्वयं सम्पादित हिंसा कृत हिंसा है। आमिष भक्षण के लिए क्रेताओं के द्वारा हिंसा करो अर्थात् प्रयोजक व्यापार के द्वारा कराई गई हिंसा कारित हिंसा है। दूसरे

के द्वारा सर्प आदि की हिंसा का अनुमोदन साधुवाद पूर्वक समर्थन अनुमोदित हिंसा है। ये वितर्क क्रोध, लोभ एवं मोह से अनुष्ठित होते हैं। क्रोध पूर्वक हिंसा—इसने अपकार किया है—अतः इसको मारना चाहिए। लोभपूर्वक हिंसा—मांस, चर्म आदि के लिए की गई या कराई गयी हिंसा। मोहपूर्वक हिंसा—मनुष्यों के उपयोग के लिए विधाता ने पशुओं की सृष्टि की है, अतः इनके पीडन में दोष नहीं है आदि ज्ञान से सम्पादित हिंसा। इस प्रकार नव प्रकार की हिंसा मृदु हिंसा-कीट पतङ्गों के पीडन या आततायी का बध आदि, मध्य हिंसा—पशु पीडन या पुरुष वध आदि, अधिमात्र = तीव्र हिंसा मानव पीडन या स्वजन वध आदि, इस प्रकार ये दश वितर्क पूर्वोक्त प्रदर्शित नव प्रकार का मृदु मध्य आदि के भेद से सत्ताइस प्रकार के हैं।

अतः इस वितर्क से बाधित अहिंसा आदि का, वितर्क हिंसा आदि के सम्पादन से, अनन्त दुःख प्रद हैं अनन्त अज्ञान-सम्पादक हैं—इस भावना से निवर्तन ही प्रतिपक्ष भावना है ॥ ३४ ॥

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

यम आदि के द्वारा अहिसा की प्रतिष्ठा होने पर सहज शत्रु सर्प, नकुल, मार्जार, मूषक आदि में भी 'योगियों' के सान्निध्य में परस्पर वैर का अभाव रहता है। अर्थात् जन्तुओं में भी परस्पर हिंसा बुद्धि का परित्याग हो जाता है ॥ ३५ ॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

धर्म आदि से जिस सुख आदि की प्राप्ति होती है, सत्य का अभ्यास करने वाले योगियों की वाणी से उन फलों की प्राप्ति होती है अर्थात् 'सुखी हो, अशान्त हीन हो' इन योगी वचनों से ही श्रोता को 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि ज्ञान उत्पन्न होते हैं, अतः सत्य की प्रतिष्ठा से क्रिया फल की प्राप्ति होती है ॥ ३६ ॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

अस्तेय की स्थिरता की सिद्धि होने पर रत्न एवं उत्कृष्ट द्रव्यों की याचना के विना ही सत्त्व के बल से योगियों के द्वारा ये उपस्थापित होते हैं ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य का अभ्यास करते हैं, उन व्यक्तियों के उसके प्रकर्ष निरतिशय वीर्य अर्थात् सामर्थ्य की उपलब्धि होती है। शिष्यों को ज्ञान का आधान एवं अणिमा आदि सिद्धि का लाभ होता है ॥ ३८ ॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ॥ ३६ ॥

अपरिग्रह की स्थिरता से अतीत भावी और वर्तमान जन्मों में मैं कौन था, किस प्रकार का था, इसकी जिज्ञासा होने पर सम्यग् ज्ञान होता है। क्यों जन्म हुआ, किस कारण से, इसका क्या अवसान है आदि जिज्ञासा होने पर उनका ज्ञान हो जाता है ॥ ३९ ॥

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्ग ॥ ४० ॥

बाह्य शौच से अपने शरीर की शुद्धि न देखने के कारण शरीर के प्रति घृणा होती है, उसके कारण की पर्यालोचना से घृणा स्वाभाविक है। अनेक रोम कूपों से मल निःसृत हो रहे हैं, अतः अतिशय घृणा होती है। अपने शरीर में घृणा होने पर अन्य शरीर में भी घृणा हो जाती है, अतः उनके साथ संसर्ग की इच्छा नहीं होती है ॥ ४० ॥

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रतेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

आभ्यन्तर शौच से सत्त्व शुद्धि होती है, सत्त्व शुद्धि से सौमनस्यरूप अतिशय सौख्य की प्राप्ति होती है, एकाग्रता, इन्द्रिय जय और आत्मदर्शन की योग्यता सम्पन्न होती है ॥ ४१ ॥

संतोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ ४२ ॥

सन्तोष की स्थिरता से अतिशय उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है।

कामना की पूर्ति जन्म सुख एवं दिव्य विशिष्ट सुख सन्तोष अन्य सुख की सोलहवीं कला में भी नहीं है ॥ ४२ ॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

तप के द्वारा अशुद्धि का नाश होने पर अणिमा आदि शरीर सिद्धि, प्रतिभा आदि ज्ञान का उत्कर्ष रूप इन्द्रिय सिद्धियां सुलभ होती है ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ ४४ ॥

अभिप्रेत मन्त्र जप आदि स्वाध्याय के प्रकर्ष से योगियों को देवता, ऋषियों और सिद्धों का दर्शन होता है ॥ ४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वर का प्रणिधान अर्थात् भक्ति विशेष से समाधि की सिद्धि होती है ॥ ४५ ॥

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

पद्मासन आदि के सुनिश्चल और सुखावह होने पर ये योग के अङ्ग होते हैं। अन्यथा यह चित्त के विक्षेपकारी होते हैं, आसन की सिद्धि से शीत उष्ण, भूख, प्यास आदि कष्ट नहीं होते हैं ॥ ४६ ॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

मृत के समान शरीर के प्रयत्न की शिथिलता बिना क्लेश के ही आसन की सम्पन्नता एवं आकाश में चित्त की समापत्ति होने पर आसन सिद्ध होता है। सहस्र कणों से पृथिवी का धारण कर अवस्थित अनन्त के समान ही मैं हूँ, इस प्रकार की स्थिति की अनन्त में समापत्ति एवं प्रयत्न के बिना शरीर को काष्ठ के समान निश्चेष्ट, स्थिर, शून्य के समान भावना कर आसन सिद्ध करना चाहिए ॥ ४७ ॥

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

आसन के जय से योगी शीत उष्ण आदि द्वन्द्वों से कष्ट का अनुभव नहीं करता है ॥ ४८ ॥

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

आसन की स्थिरता होने पर श्वास वायु का पूरण (पूरक) वायु का रेचन अर्थात् श्वास की अन्तर्गति शून्यता एवं प्रश्वास बाह्यगति शून्यता एवं कुछ समय तक श्वास प्रश्वास की गतिविविच्छेद रूप कुम्भक—यह प्राणायाम है ॥ ४९ ॥

स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः॥

प्राणायाम की तीन वृतियाँ हैं बाह्य वृत्ति, आभ्यन्तर वृत्ति और स्तम्भ-वृत्ति। कोष्ठ में स्थित वायु का परित्याग कर बाहर ही धारण बाह्य-वृत्ति प्राणायाम है। बाह्य वायु को खींचकर अन्दर में धारण रूप गतिविच्छेद आभ्यन्तर वृत्ति है, निःसारण अन्दर खींचना छोड़कर श्वास प्रश्वास की गतियों का अभाव सम्पादन कर सुनिश्चल शरीर एवं मन से कुछ समय तक अव-स्थान स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम है।

श्वास और प्रश्वास की गति का अभाव प्राणायाम है। श्वास पूर्वक प्रश्वास पूर्वक एवं प्रयत्न विशेष से और एक बार जो यह श्वास-प्रश्वास की गति का भाव है, यह तीन प्रकार का प्राणायाम है। बाह्य और आभ्यन्तर वृत्तियों का निःसारण और आपूरण प्रयत्न है इसका सम्पादन न कर एकबार वायु का विधारण स्तम्भ-वृत्ति करनी चाहिए। ये तीनों प्राणायाम सङ्कल्पशून्य मन से आध्यात्मिक स्थान में शून्य के समान शरीर और मन को रखकर करना

चाहिए। ऐसी स्थिति में किया गया प्राणायाम चित्त की स्थिरता का सम्पादक एवं योग का अङ्ग होता है।

देश परिदृष्टि, काल परिदृष्टि और संख्यापरिदृष्टि इन तीन परिदर्शन से साधित प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार का है। सरोवर आदि आध्यात्मिक प्रदेश में चित्तवृत्ति देश परिदर्शन है। इतने समय तक प्राणायाम करना चाहिए यह काल परिदृष्टि है। स्वस्थ सुप्त पुरुष का श्वास प्रश्वास काल को मात्रा कहा जाता है। बारह मात्राओं से वायु का खींचना, चौबीस मात्राओं से वायु का विधारण, छत्तीस मात्राओं से परित्याग करना चहिए इसको प्राणरोध काल विशेष से उद्घात कहा जाता है। जितने समय अवरुद्ध वायु उद्वेग उत्पन्न करता है तभी तक उद्घात है। श्वास प्रश्वास की संख्या से उद्घात काल का निश्चय करना चाहिए, अतः उद्घात संख्या-परिदर्शन है। देश, काल और संख्या से परिदृष्ट प्राणायाम का अभ्यास दीर्घ और सूक्ष्म होता है। सभी प्राणायाम की देश से समीक्षा करना चाहिए, वे काल और संख्या से आधिक्य रूप में परिदृष्ट दीर्घ होते हैं, छत्तीस मात्रा से अवच्छिन्न काल व्यापी दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं ॥ ५० ॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः॥ ५१ ॥

बाह्य और आन्तर वृत्ति प्राणायामों को देश काल आदि विषयों का परिदर्शन पूर्वक तृतीय स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम की सकृत् प्रयत्नपूर्वक साधना करे। इस साधना से बाह्य और आभ्यन्तर प्राणायाम की दीर्घ और सूक्ष्म हुए अनन्तर विषय परिदर्शन का अतिक्रम कर अर्थात् त्यागकर जो स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है—यह चतुर्थ है, तृतीय स्तम्भवृत्ति सकृत् प्रयत्न से विधारण है और चतुर्थ अभ्यास की निपुणता से पूर्व भूमियों का अतिक्रमण कर सूक्ष्मीभूत प्राण का विधारण है।

वसिष्ठ संहिता के अनुसार :—जिस प्राणायाम में पसीना आता है वह अधम है और जिसमें कम्पन हो वह मध्यम है और जिसमें उत्थान हो वह उत्तम है। उत्तम प्राणायाम की साधाना से ये दोनों समाप्त हो जाते हैं, केवल कुम्भक ही इनके नाश का साधन है। रेचक और पूरक का परित्याग कर सुख पूर्वक वायु का धारण प्राणायाम है, सहित या कुम्भक का नित्य अभ्यास करे, केवल कुम्भक की सिद्धि से पूर्वतक रेचक पूरक सहित का अभ्यास करे। रेचक पूरक वर्जित केवल कुम्भक की सिद्धि से तीनों लोक में दुर्लभ कुछ भी नहीं है ॥ ५१ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

प्राणायाम से चित्त के सत्त्व अर्थात् प्रकाश के आवरण क्लेश का नाश होता है ॥ ५२ ॥

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

प्राणायाम से मन की धारणा में क्षमता सम्पन्न होती है ॥ ५३ ॥

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

चक्षु आदि इन्द्रियों का अपने विषयों के असन्निकर्ष के समय में अर्थात् ध्यान आदि में चित्ताकार सम्पत्ति होती है वही प्रत्याहार है। अर्थात् चित्त का स्वरूप सम्पन्न के रूप में अवस्थान प्रत्याहार है ॥ ५४ ॥

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

प्रत्याहार के द्वारा चित्ताकार सम्पन्न इन्द्रियों से विषय ज्ञान में रहित होने से इन्द्रिय सर्वथा अपने अधीन हो जाती है सभी इन्द्रिय विजयों में प्रत्याहार से इन्द्रियों का विजय श्रेष्ठ है ॥ ५५ ॥

अथ तृतीयो विभूतिपादः

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

मैत्री आदि की वासनाओं से अन्तःकरण के परिपूर्ण होने पर नियम सम्पन्न आसन का जयकर प्राण का परिहार होने पर इन्द्रियों को प्रत्याहृत कर निर्बाध स्थान में अक्लिष्ट शरीर से शीतोष्ण द्वन्द्व का विजयकर योगियों के द्वारा नासिका अग्र भाग में सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास के लिए चित्त को स्थिर करना धारणा है। अर्थात् प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रिय और चित्त के प्रत्याहृत होने पर हृदय कमल आदि आध्यात्मिक देश से या बाह्य देश से चित्त को रोकना धारणा है। हृदय कमल आदि की भावना ही धारणा नहीं है। इस अवस्था में चित्त अभिमत देश में ही रहता हुआ अन्य विषयों का ग्रहण नहीं करता है, क्योंकि इन्द्रियों के प्रत्याहृत होने से वे विषय संयोग से चञ्चल नहीं होती हैं, यही धारणा योगाङ्ग है, अप्रत्याहृत धारणा योगाङ्ग नहीं है ॥ १ ॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

ध्यान धारणा से साध्य है। विषयान्तर के ज्ञान से रहित चित्त का किसी एक स्थान में बन्धन धारणा है, इस अवस्था में एकतान प्रत्यय नहीं होते हैं, किन्तु जल की धारा के समान सदृश परिणाम के ज्ञान रहते हैं। इन सदृश ज्ञानों का एकतानता-सम्पादन ही ध्यान है। तेल की धारा के समान एकता न होती है, इस अवस्था में प्रत्ययों के प्रवाह की अनुभूति नहीं होती है, एक ही ज्ञान उत्पन्न है—यह अनुभूति होती है—यही प्रत्यय की एकतानता ध्यान है ॥ २ ॥

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

जब ध्यान ध्येय अर्थमात्र में ही उपरक्त होता है, मैं ध्यान करता हूँ, इन ग्रहण और ग्रहणकर्ता का विस्मरण कर देता है, तब उस ध्यान को समाधि कहा जाता है। इस समाधि की अवस्था में चित्त की भली-भाँति स्थिरता होती है। इसी अवस्था में ध्येय विषय की और अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। अर्थात् स्वरूप शून्य से ध्यान ध्येय के आवेश से ध्यान और ध्याता की दृष्टि से रहित होता हुआ ध्येयाकार रहता है। इन दोनों के ग्रहण के समय ध्यान रहता है, समाधि नहीं, अतः ध्यान के समय विषय इन्द्रिय सम्पर्क से ध्यान भङ्ग हो सकता है, किन्तु समाधि का भङ्ग नहीं हो सकता है। समाधि अन्य वृत्तियों के निरोध से साक्षात्कार का साधन है। दीर्घकाल व्यापी होने

पर सम्प्रज्ञात योग कहा जाता है। ध्येय की स्फूर्ति से उस चिन्मय रूप में असम्प्रज्ञात समाधि होती है। योग सुधाकर में कहा है—

अहंकार के विना ब्रह्माकार मनोवृत्तिका प्रवाह सम्प्रज्ञात समाधि है— यह ध्यान और अभ्यास के प्रकर्ष से होती है। अर्थात् कर्ता और करण का अनुसन्धान पूर्वक उत्पन्न प्रत्यय ध्यान है और इनके उत्कर्ष से इनके अनुसन्धान से रहित ध्येय मात्र गोचर निर्भास समाधि है। ऊपर वैराग्य एवं समादर पूर्वक निरन्तर दीर्घ काल तक सेवित, रजोगुण और तमोगुण के लेश से, सुख प्रकाशमय सत्त्वगुण के उद्रेक से; दोष रहित प्रकाशस्वरूप अनेक समय तक अनुवर्तन करने पर सम्प्रज्ञात समाधि होती है, पर वैराग्य पूर्वक निरोध के प्रयत्न से उसका भी निरोध करने पर सभी वृत्तियों के निरोध से निर्बीज समाधि होती है—

वृत्ति शून्य मन की ब्रह्माकार स्थिति असम्प्रज्ञात समाधि है।

ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना।
सम्प्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः॥
मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः।
यासम्प्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते॥ ३॥

त्रयमेकत्र संयमः॥ ४॥

एक ही विषय में धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों की प्रवृत्ति होने पर संयम कहा जाता है॥ ४॥

तज्जयात्प्रज्ञालोकः॥ ५॥

संयम के अभ्यास से अर्थात् सतत अनुष्ठान से विवेक स्वरूप प्रज्ञा का प्रकाश होता है अर्थात् दीप्ति या वृद्धि होती है।

ज्ञानशक्ति की अस्थिरता मल है और इस मल से अज्ञता होती है अस्थिर ज्ञानशक्ति ज्ञेय विषय में स्थिरता का लाभ न करने से उस विषय का भलीभांति प्रकाशन नहीं करती है। समाधि के द्वारा शरीराभिमान से शून्य स्थिरतम ध्येय विषय के रूप में ज्ञान शक्ति का पर्यवसान होता है, उस समय से प्रकृष्ट ज्ञान रूप प्रज्ञा होती है, अर्थात् देहाभिमान से अनियमित स्थिरतम ध्येय विषय में पर्यवसित ज्ञानशक्ति विषय का सम्यग् अवबोध कराती है॥५॥

तस्य भूमिषु विनियोगः॥ ६॥

इस संयम को स्थूल सूक्ष्म, आलम्बन के भेद से चित्तवृत्तियों में विनियोग करना चाहिए, एक चित्तभूमि का जयलाभ करने के बाद ऊपर कथित अजित भूमियों में विनियोग करना चाहिए। स्थूल विषय में सवितर्क समाधि

में संयम से जय लाभ करने के बाद निर्वितर्क में संयम का विनियोग करना चाहिए ॥ ६ ॥

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

पूर्वोक्त यम, नियम, आसन प्राणायाम और प्रत्याहार से धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन सम्प्रज्ञात के अन्तरङ्ग उपकारक अर्थात् अङ्ग है ॥ ७ ॥

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

असम्प्रज्ञात निर्वीजयोग अर्थात् निरालम्बन योग के ये तीन अङ्ग भी बहिरङ्ग ही हैं, क्योंकि ये परम्परा क्रम में उसके उपकारक होते हैं ॥ ८ ॥

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधलक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ६ ॥

गुण वृत्तियाँ चल हैं, अतः सभी प्राकृत पदार्थ परिणाम शील हैं, अतः अलक्ष्य निरोध अवस्था भी परिणामिनी है, जागरण के समान, निरोध का भङ्ग देखने के कारण परिणाम का अनुमान होता है। क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त तीन भूमियाँ व्युत्थान हैं। प्रकृष्ट सत्व का अङ्गी के रूप में चित्त का परिणाम निरोध है, व्युत्थान और निरोध से उत्पन्न संस्कारद्वय का यथाक्रम में अभिभव और प्रादुर्भाव जब होता है, तब उस निरोध क्षण में चित्त की उभयवृत्तिता से जो सम्बन्ध है वह निरोध परिणाम है। व्युत्थान और योग दोनों योगों में साधारण है। कार्य करने के असामर्थ्य के रूप में अवस्थान अभिभव है, बर्तमान मार्ग में अभिव्यक्त रूप से अवस्थान प्रादुर्भाव है। निरोध क्षण में चित्त की दोनों वृत्तियों के रहने से अन्वय ही निरोध परिणाम है।

आशय यह है कि जब व्युत्थान और संस्कार रूप दोनों धर्म तिरोहित हो जाते हैं तब निरोध और संस्कार का आविर्भाव होता है। इन दो धर्मों का धर्मी चित्त है, अतः धर्मी रूप से उभयत्र अन्वित रूप में यह प्रतीत होता है—यही निरोध परिणाम है। गुणों के चलायमान रहने से चित्त निश्चल नहीं हो सकता है, किन्तु पूर्वोक्त निरोध परिणाम की स्थिरता कही जाती है।

यह व्युत्थान और निरोध सम्प्रज्ञात उभययोग साधारण है। पर वैराग्य वृत्ति से सम्प्रज्ञात वृत्ति और उसके संस्कार के अभिभव होने से पर वैराग्य ही अभिव्यक्त होता है, अतः यह निर्वीज निरोध परिणाम है ॥ ९ ॥

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

व्युत्थान संस्कार का अभिभव होने पर निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव होने से चित्त का परिणाम बताते हुये कहा है कि इस अवस्था में व्युत्थान संस्कार

रूपमल से रहित निरोध संस्कार से परम्परा मात्र वहन करने वाला प्रशान्त-वाहित परिणाम होता है अर्थात् समान प्रवाह-परिणामी चित्त होता है ॥१०॥

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

एकाग्रता और विक्षेपात्मक सभी अर्थों का ग्रहण ये दोनों चित्त के धर्म हैं। अर्थात रजोगुण से चलायमान चित्त सभी अर्थों का ग्रहण करता है। रजोगुण के अभिभव अर्थात् तिरस्कार के लिए योगियों के द्वारा प्रयत्न किये जाने पर सर्वार्थकता का नाश अर्थात् तिरोभाव होने लगता है और एकाग्रता का उदय होने लगता है। अर्थात् एकाग्रता रूप धर्म की सर्वार्थकता का अभिभव कर उत्पत्ति ही समाधि परिणाम है।

पूर्व में यह विशेषता है कि निरोध संस्कार का अनभिभूत रूप में उदय रहता है। और इसमें सर्वार्थकतारूप विक्षेप का सर्वथा परित्याग रहता है अर्थात् उसका अत्यन्त तिरोभाव रहता है इस प्रकार अतीत विक्षिप्तता के क्षय के साथ एकाग्रता लक्षण धर्म का उद्भव रूप मार्ग में प्रवेश समाधि परिणाम है।

आशय यह है कि सर्वार्थकता चित्त धर्म है वह अलात चक्र (घूमते हुए अग्नियुक्त चक्र) के समान सभी इन्द्रियों की एक ही साथ सञ्चरणशीलता है, एकाग्रता भी चित्त का धर्म है; यह एक विषय में स्थितिशीलता है, इन दो धर्मों में प्रथम का नाश और दूसरे का उदय अर्थात् सर्वार्थकता का नाश और एकाग्रता का उदय होने से इस प्रकार के धर्म से युक्त चित्त का वैकृत परि-णाम-समाधि परिणाम है ॥ ११ ॥

शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

एकाग्रता परिणाम :—

समाधि के समय चित्त का परिणाम एकाग्रता परिणाम है, पूर्व सर्वार्थता परिणाम शान्त है अर्थात् सर्वथा विनष्ट है अतीत मार्ग का का विषय है और दूसरी वृत्ति उदित है। किन्तु दोनों वृत्तियाँ समान विषयक होने से समान है, अतः सदृश वृत्तियों का प्रवाह एकाग्रता परिणाम है। अतीत और वर्त-मान वृत्ति में समाहित अवलम्बन करने वाली वृत्ति के साथ अवस्थान—एकाग्रता परिणाम है।

धर्म का आश्रय करने वाली धर्मी चित्त के साथ पूर्व का लय और उत्तर का उदय ही परिणाम है।

विक्षेप की अवस्था में विषय वृत्तियों का लय और उदय का प्रवाह चलता है और समाधि में समान वृत्तियों का लय और उदय चलता है यही एकाग्रता परिणाम है। एकाग्रता भूमिक सम्प्रज्ञात में संस्कार और वृत्तियों

का लय और उदय चलता है, व्युत्थान संस्कार और व्युत्थान प्रत्ययों का लय एवं प्रज्ञा संस्कारों का अर्थात् विवेक आदिका उदय होता है—यह समाधि परिणाम है, असम्प्रज्ञात योग में संस्कार मात्र का लय और उदय होता है, अर्थात् व्युत्थान संस्कार का लय और निरोध संस्कारों का उदय रहता है, व्युत्थान निरोधात्मक निरोध में ही संस्कार मात्रों का लय उदय रहता है—यह निरोध परिणाम है ॥ १२ ॥

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

इस प्रकार से तीन प्रकार के परिणाम से स्थूल सूक्ष्म रूप भूतों के एवं ज्ञान कर्म रूप इन्द्रियों के धर्म का लक्षण और व्यवस्था के भेद से तीन परिमाणों की व्याख्या की गई है। अवस्थित धर्मी की पूर्व धर्म की निवृत्ति के साथ अन्य धर्मों का आगमन परिणाम है, जैसे भूत स्वरूप धर्मी का पिण्ड रूप धर्म का परित्याग कर घट रूप अन्य धर्म की प्राप्ति धर्म परिणाम है। इसी प्रकार 'घट का अनागत मार्ग परित्याग के साथ वर्तमान मार्ग का स्वीकार, इसी प्रकार वर्तमान मार्ग का परित्याग कर अतीत मार्ग का स्वीकार—लक्षण परिणाम है।

इसी प्रकार घट की प्रथम और द्वितीय सदृश क्षण में अन्वय होना—अवस्था परिणाम है।

आशय यह है कि अतिशय वैराग्य के लिए वस्तुमात्र को प्रतिक्षण परिणामी कहा गया है। चित्त का व्युत्थान और निरोध धर्म से परिणाम होता है। एकधर्म का अभिभव और अन्यधर्म का प्रादुर्भाव। दोनों धर्मों में अनागत स्वरूप को छोडकर वर्तमान स्वरूप की अभिव्यक्ति है, इसके वर्तमान स्वरूप का परित्याग कर अतीत लक्षण स्वरूप का अभिभव है। एक अवस्था में भी आविर्भाव और तिरोभाव की अवस्था माननी पड़ेगी, क्योंकि सत्कार्यवाद माना गया है। तीनों अवस्थाओं में धर्मत्व अनुस्यूत है। वर्तमान स्वरूप धर्मों की अवस्था का प्रतिक्षण तारतम्य ही परिणाम है निरोध के बलवान् होने पर व्युत्थान संस्कार दुर्लभ होता है। गुण स्वभाव से प्रवृत्तिशील है। अतः चित्त क्षण भर भी परिणाम से रहित नहीं होता है। धर्मी का धर्मों से परिणाम दो प्रकार का है—जैसे मिट्टी रूप धर्मी का पिण्डरूप धर्म का नाश होने से घटरूप धर्म की अभिव्यक्ति होती है। घट का लक्षणों से भी परिणाम होता है—जैसे घट का अनागत स्वरूप के नाश होने पर वर्तमान स्वरूप का आविर्भाव है—यही उत्पत्ति है। वर्तमान लक्षण के नाश होने पर अतीत स्वरूप का आविर्भाव होता है, यही नाश है। स्वरूप का अवस्थाकृत परिणाम भी होता है। जैसे—वर्तमान घट का प्रतिक्षण नवीन

परिणाम, प्राचीन परिणाम वृद्धि ह्रास आदि अवस्थाओं से अन्य प्रकार का रूप धारण करता है, इसी प्रकार इन्द्रियों का उन रत्नों का आलोचन धर्म परिणाम है, उनका वर्तमानत्व आदि स्वरूप परिणाम है। वर्तमान स्वरूप रत्न आदि आलोचन का स्फुटत्व अफुटत्व आदि अवस्था परिणाम है।

वस्तुतः नागेश भट्ट के अनुसार यह धर्म, लक्षण और अवस्था का परिणाम धर्मी से काल्पनिक भेद का आश्रयण कर कहा गया है। वास्तविक दृष्टि से सभी परिणाम धर्मी के ही हैं, धर्म लक्षण और अवस्था ये तीनों धर्मी के स्वरूप हैं। धर्म के परिणाम से धर्मी का ही परिणाम विवक्षित है। धर्मी के प्रदर्शित तीनों परिणामों में संस्थान का ही अन्य रूप होता है; द्रव्य की अन्य स्वरूपता नहीं होती है। स्वर्ण और कुण्डल आदि के समान धर्म और धर्मी का अत्यन्त भेद या अत्यन्त अभेद नहीं है। यह धर्म पुरुष के समान कूटस्थ है, क्योंकि अर्थक्रियाकारी रूप का नाश होता है। यह सर्वथा तुच्छ भी नहीं है, उसमें कभी-कभी अर्थ-क्रिया देखी जाती है। परिणामी होने से ही यह पुरुष से भिन्न है। मृत्पिण्ड की अवस्थाओं में भी अतीत और अनागत घट का सत्व है, धर्मत्व का नाश नहीं होता है। अपने कारण में लय होने से सूक्ष्मता के कारण अतीत और अनागत स्वरूप की उपलब्धि नही होती है। असत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं है और सत् का सर्वथा नाश सम्भव नहीं है। अतः प्रदर्शित मार्ग ही सम्भव है।

अनुभव से भी धर्म और धर्मी का अभेद है एवं धर्मों का परस्पर भेद है। घट और व्यक्ति के समान अत्यन्त अभेद धर्म और धर्मी में नहीं है और न अश्व और पुरुष के समान सर्वथा भेद ही है। वर्तमान आदि स्वरूपों का अविर्भाव और तिरोभावरूप विरुद्ध धर्मों के सम्बन्ध से इनका परस्पर साङ्कर्य नहीं होता है। आविर्भाव और तिरोभाव धर्मी स्वरूप है अतिरिक्त नहीं है, अतः अनवस्था नहीं है। स्थित द्रव्य की पूर्व धर्म निवृत्ति पूर्वक अन्य धर्मों की उत्पत्ति ही परिणाम है। चिति शक्ति को छोड़कर सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिणामी हैं ॥ १३ ॥

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

सदृश या असदृश दोनों धर्मों का उदय, विलय भूत और इन्द्रियों में होते हैं—वे ही धर्म परिणाम है। जैसे—निश्चल दीपशिखा में तैल रूप धर्मी के प्रतिक्षण समान धर्मों के लय और उदय होते हैं।

काल भेद अर्थात् अतीत, अनागत और वर्तमान को लक्षित कर जो भेद होता है वह लक्षण परिणाम है। जैसे—अतीत घट, वर्तमान घट, भविष्यत् घट, ये तीनों भेद काल को लक्षित कर होते हैं, अतः लक्षण परिणाम हैं।

धर्म और लक्षण मूलक भेद बुद्धि के विना भी यह मणि पुराना हो गया इत्यादि भेद बुद्धि होती है, अर्थात् देश और अवस्था आदि के कारण भी भेद बुद्धि होती है—ये ही अवस्था परिणाम हैं। वास्तविक भिन्नता न रहने पर अवस्थाओं से भेद का आरोप होता है। पुराना होने पर जीर्णता आदि धर्म परिणाम है, अवस्था परिणाम नहीं है। भिन्नतायें वास्तविक नहीं हैं ॥ १४ ॥

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

बौद्धों ने धर्म से अतिरिक्त धर्मी नहीं माना है, अतः धर्मी का स्वरूप निरूपण किया जा रहा है।

धर्म परिणाम अन्य परिणामों की अपेक्षा सत्य है। शान्त, उदित और अव्यवहार्य के भेद से धर्म तीन प्रकार का है प्रमाण से ज्ञात द्रव्य की शक्ति धर्म है। धर्मों से ही धर्मी का विज्ञान किया जाता है, अतः धर्म ज्ञात-शक्ति कहे जाते हैं। तीनों धर्मों का अन्वयी पदार्थ धर्मी है, सूक्ष्म अव्यक्त अतीत और अनागत एवं व्यक्त उदित धर्मों का समाहार धर्मी है।

व्यापार समाप्त होने पर शान्त व्यापार युक्त उदित, सभी सब उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सामान्य रूप से प्रमित शक्ति जो धर्मी में सूक्ष्म रूप से वर्तमान है; वह अव्यपदेश्य नामक धर्मी है, भौतिक धर्मियों का सभी भौतिक स्वरूपों में, स्थावर का जङ्गम में, जङ्गम का स्थावरों में समुत्पादन योग्यता है। अभौतिकों की भी समान स्थिति है, अतः सभी सर्वात्मक और सभी के कारण हैं, अतः असंख्य अनागत धर्म धर्मी से सिद्ध होते हैं। इनमें ये किसी यथायोग्य निमित्त से अभिव्यक्त होते हैं।

आशय यह है कि अतीत वर्तमान अनागत धर्मों में वर्तमान रूप से अनुगत को धर्मी कहा जाता है। धर्मी या द्रव्य की कार्य को उत्पन्न करने की योग्यता से सम्पन्न घट आदि के उत्पन्न करने की शक्ति ही धर्म है। अव्यक्त रूप से कार्य कारण में है। उपादान कारणों में कार्य के रहने पर भी देश काल आकार का निमित्त होने से सदा सभी कार्यों का आविर्भाव नहीं होता है। देश की निमित्तता-यथा काश्मीर में ही केशर होता है। धान्य की उत्पत्ति काल निमित्तक अर्थात् पानी साधन है। पुण्यरूप निमित्त के विना सुख नहीं होता है। भाष्यकार की दृष्टि से अलिङ्ग प्रधान ही धर्मी है ॥ १५ ॥

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

एक धर्मी के अनेक परिणाम कैसे हो सकते हैं, इस आशङ्का की निवृत्ति के लिए पतञ्जलि ने यह सूत्र कहा है। एक धर्मी के मानने पर एक ही परिणाम

हो सकता है, एक रूप के कारण से भिन्न कार्य नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर कार्यों की आकस्मिकता प्राप्त होगी।

आशय यह है कि मिट्टी का चूर्ण पिण्ड कपाल, कलस आदि आकार के रूप में क्रमिक परिणाम-परम्परा के आलोक में प्रत्यक्ष रूप से गृहीत होता है। चूर्ण और पिण्ड का अन्य आनन्तर्य है और कपाल और घट में अन्य आनन्तर्य है। ये प्रदर्शित क्रम भेद एक परिणाम में कल्पित नहीं हो सकते हैं, अतः ये भिन्न परिणाम के आपादक हैं। सहकारी के सान्निध्य और असान्निध्य के कारण मिट्टी रूप एक धर्मी के रहने पर भी आकस्मिकत्व नहीं है, क्योंकि परिणाम की परम्परा क्रमिक है।

मृत्तिका के चूर्ण से मृत्तिका पिण्ड, अनन्तर कपाल और कपाल से घट इस रूप में दृश्यमान परिणाम भिन्न-भिन्न है। धर्मी में लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम, परिणाम का क्रम है, वह भी प्रदर्शित न्याय के अनुसार परिणाम के भेद के साधन है। सभी द्रव्य नियत क्रम से प्रतिक्षण परिणाम प्राप्त करते हुए उपलब्ध हो रहे हैं। अतः क्रम के भेद से परिणाम भेद सिद्ध है। चित्त आदि के परिणाम में कतिपय धर्म प्रत्यक्ष से ही अवगत होते हैं, जैसे सुख संस्थान आदि और कतिपय धर्म एकान्त रूप से अनुमान से ही जाने जाते हैं। जैसे—धर्म, संस्कार शक्ति आदि, धर्मी भिन्न-भिन्न रूप से सर्वत्र अनुस्यूत है। भाष्य में कहा भी है—

निरोध, कर्म, संस्कार, जीवन, चेष्टा, परिणाम, शक्ति ये सब अनुभेद है।

निरोध-कर्म-संस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः॥

संयम के विषय वशीकार का विवेचन करते हुए सिद्धि का निरूपण इस सूत्र से किया जा रहा है।

धर्म लक्षण और अवस्था के भेद से तीन परिणामों का निरूपण किया गया है। धर्म, लक्षण और अवस्था इन तीन परिणामों का संयम करने पर योगी अतीत अनागत विषयों को भी जान सकता है, केवल ज्ञान करनेवाली इन्द्रियाँ ही हम लोगों के ज्ञान के लिए एकमात्र साधन नहीं है। क्योंकि स्वप्न आदि के द्वारा भी बहुधा यथार्थ ज्ञान होता है। इस धर्मी में यह धर्म है, यह लक्षण है, यह अवस्था है, यह अनागत का अवगत कर वर्तमान में अपने व्यापार का विधान करने पर अतीत भाग में प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार संयम करने पर योगी सब कुछ जान लेता है। चित्त शुद्ध स्वप्रकाश स्वरूप है, अतः सभी के ज्ञान के सामर्थ्य से आविद्यिक विक्षेप को हटा कर मल रहित ऐनक के

समान सभी अर्थों के ग्रहण का सामर्थ्य एकाग्रता के कारण आ जाता है। अर्थात् पूर्वोक्त तीन परिणामों का किसी अर्थ में संयम करने पर ध्यान, धारणा और समाधि से साक्षात्कार होता है, अतः इनके अतिरिक्त अर्थों का भी अर्थात् अतीत भविष्य का ज्ञान सङ्कल्प मात्र से प्रणिधान के द्वारा होता है।

आशय यह है कि परिणाम कर्मों और साधनों का साक्षात्कार होने से अतीत और अनागत ज्ञान होता है। योगियों को क्रियादि रूप निमित्तों का तथा सत्त्व रूप धर्मियों का सम्यग् ज्ञान होने पर धर्म आदि का ही अतीत और अनागत ज्ञान होता है।

असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है और सत् का अभाव नहीं रहता है, अतः अतीत और अनागत भी वर्तमान ही है, अभिव्यक्ति नहीं है। यह सत्य है कि निर्विषयक ज्ञान नहीं हो सकता है, किन्तु, इस सिद्धान्त में कार्य सत् है अतीत अनागत वस्तु सत् है, अतीत और अनागत विषय का ज्ञान सत् विषय का ही ज्ञान है। ज्ञेय की विचित्रता होने पर भी सत्त्व की शुद्धि रहने पर वह ज्ञान हो सकता है। आवरण-मल-शून्यता ही सभी विषयों के ज्ञान का कारण है॥ १६॥

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूत-रुतज्ञानम् ॥ १७॥

कान रूप इन्द्रियों से ग्राह्य, नियत क्रम वाला एवं नियत किसी एक अर्थ का बोधक शब्द है, या क्रम रहित स्फोटात्मक शब्द है, यह शब्द, पद रूप और वाक्य रूप से किसी एक अर्थ का प्रत्यायक है। जाति गुण क्रियादि रूप अर्थ है। विषयाकार बुद्धि-वृत्ति ज्ञान है। ये तीनों परस्पर भिन्न हैं, किन्तु एक की दूसरे के साथ एकरूपता के व्यवहार में सम्पादित होने से तीनों में संकीर्णता अर्थात् साङ्कर्य्य रहता है।

गौ लाओ यह कहने पर गौ रूप अर्थ, उसका वाचक शब्द और ज्ञान, अभिन्न रूप से प्रतीत होते हैं। इसका वाचक गो शब्द है और यह गो शब्द का वाच्य अर्थ है, इन दोनों का ग्राहक यह ज्ञान भिन्न रूप में व्यवहार का विषय नहीं होता है। शब्द कौन है ? अर्थ कौन है ? ज्ञान कौन है ? यह पूछने पर एक ही उत्तर मिलता है—गौ। ये तीनों एक रूप नहीं है, तब उत्तर एक रूप कैसे हो सकता है ? ऐसी स्थिति में यह शब्द का तत्त्व वाचकत्व रूप है, वाच्यत्व रूप यह अर्थ है, और प्रकाशकत्व रूप ज्ञान है; यह भेद कर इस प्रविभाग में जो संयम करता है, वह सभी प्राणियों = मृग, पशु, पक्षी आदि के शब्दों का ज्ञान करता है, अर्थात् इस अभिप्राय से इसने इस शब्द का उच्चारण किया है यह समझता है॥ १७॥

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ।। १८ ।।

चित्त का वासना रूप संस्कार दो प्रकार का है। एक स्मृतिमात्र फल का उत्पादक है, और दूसरा जाति, आयु, भोग लक्षण है, जन्य विपाक का साधन—धर्म और अधर्म।

भास्वतीकार ने सरला टीका में कहा है कर्माशय और वासना के भेद से संस्कार दो प्रकार का है। वासना से स्मृति होती है, वह जाति, आयु, सुख और दुःख के अनुभव से उत्पन्न है, वासना इनका स्मरण कराती है; इन संस्कारों का संयम करता है, अर्थात् इस प्रकार से मैंने उस विषय का अनुभव किया, इस प्रकार मैंने उस क्रिया का निष्पादन किया इस रूप में पूर्व घटनाओं का अनुसन्धान करता हुआ प्रबोधक के विना संस्कार उद्बुद्ध होने से सभी अतीत विषयों का स्मरण होता है। अर्थात् पूर्व जन्म की जाति आदि का स्मरण हो जाता है। जैगीषव्य जिसने प्रकृति को अधीन कर लिया था, उस योगी को संस्कार का साक्षात्कार होने से दश महाकल्पों में अनेक योनियों एवं उन जन्मों की परम्परा का साक्षात्कार होता है, और उन योनियों के सुख दुःख के ज्ञान के साथ दिव्य विवेकख्याति होती है ।।१८।।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ।। १९ ।।

चित्त की अवस्था रूप राग आदि का साक्षात्कार करने पर अर्थात् रागादिमती अपनी चित्त वृत्ति का संयम करने पर आश्रय आदि के रूप में सभी का साक्षात्कार होने से दूसरे के चित्त में स्थित राग आदि का भी, इसका चित्त सराग है या विराग है ज्ञान प्राप्त करता है ।। १९ ।।

न तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ।। २० ।।

राग आदि वासनानुरूप सुखादि का स्मरण स्वरूप है, स्वरूपतः ये आलम्बनभूत विषयों से अनुविद्ध नहीं हैं।

आशय यह है कि जो दूसरे के आलम्बन से युक्त है, उसका ज्ञान नहीं किया जा सकता है, क्योंकि आलम्बन को किसी साधनसे विषय नहीं किया गया है, लिङ्ग से केवल दूसरे चित्त को अवगत किया है, किस विषय से यह युक्त है—इसकी अवगति नहीं है। और जिसका ग्रहण नहीं है, उसमें संयम नहीं किया जा सकता है, दूसरे के विषय का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः आलम्बन के साथ परचित्त का ज्ञान नहीं हो सकता है। क्योंकि आलम्बन अगृहीत है। चित्त के धर्मों का ग्रहण होता है और जब यह प्रणिधान करता है कि इसने क्या आलम्बित किया है तब उसके संयम से विषय का भी ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ २० ॥

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशासंयोगेऽन्तर्धानम् ॥२१॥

चक्षु से ग्राह्य गुण अर्थात् उस रूप की चक्षु से ग्राह्यत्व रूप शक्ति का स्तम्भन अर्थात् भावना के कारण प्रतिबन्ध करने पर चक्षु का प्रकाशात्मक सत्त्व धर्म का असंयोग होने से अर्थात् कामरूप के ग्रहण के व्यापार के अभाव की स्थिति होने से मनुष्य के शरीर का अन्तर्ध्यान होता है—वह किसी से देखा नहीं जाता है ॥ २१ ॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥२२॥

पूर्व कृत कर्म संस्कार दो प्रकार के हैं—१ सोपक्रम अर्थात् फल के उत्पादन के लिए कार्य कारण भाव उन्मुख रहता है, जैसे—उष्ण प्रदेश में फैलाया गया गिला वस्त्र शीघ्र शुष्क हो जाता है। अर्थात् फलोन्मुख कर्म = प्रारब्ध है। इस कर्म से विपरीत कर्म (२) निरुपक्रम हैं, जिसका फल देर से होने वाला है। जैसे गीला वस्त्र अनुष्ण देश में फैलाने पर देर से शुष्क होता है। अर्थात् देर में फल देने वाला कर्म। इन दोनों कर्मों का संयम करने पर अर्थात् कौन कर्म शीघ्र फल दायक है और कौन कर्म देर से फलप्रद है, इस पर प्रणिधान = संयम अर्थात् ध्यान की दृढ़ता होने पर इस समय इस स्थान में मेरे शरीर का वियोग होगा अर्थात् मेरी मृत्यु होगी इसको संशय-शून्य रूप में जान लेता है या अरिष्टों से मृत्यु का ज्ञान कर लेता है।

मार्कण्डेय पुराण आदि में तीन प्रकार के अरिष्टों की चर्चा की गई है (१) आध्यात्मिक, (२) आधिभौतिक (३) आधिदैविक।

आध्यात्मिक—कान बन्द करने पर प्राण का शब्द नहीं सुनाई देना है।

आधिभौतिक—अकस्मात् विकृत पुरुषों का दर्शन। आधिदैविक–अकस्मात् स्वर्ग आदि का दर्शन, ये शत्रु के समान भय के उत्पादक है, अतः अरिष्ट है, अर्थात् मृत्यु के लिङ्ग हैं, इनसे मरण-ज्ञान होता है। यह सत्य है कि जो योगी नहीं हैं उनको भी सामान्य रूप से अरिष्टों के द्वारा सामान्य रूप में मरण का ज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु वह सन्दिग्ध रहता है, और योगियों को निश्चित देश और निश्चित काल के रूप में प्रत्यक्ष के समान होता है ॥२२॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

मैत्री, करुणा और मुदिता ये तीन भावनायें हैं, सुखी प्राणियों के प्रति मैत्री की भावना से, मैत्री बल को प्राप्त करता है, दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा की भावना करने पर करुणा बल को प्राप्त करता है, पुण्यवान् व्यक्तियों के प्रति मुदिता (हर्षयुक्त) की भावना करने पर प्रसन्नता बल लाभ करता है। इन भावनाओं से जो समाधि होती है वह संयम है, उससे अबन्ध्य

शक्ति सम्पन्न बल होता है, पापी व्यक्ति के प्रति उपेक्षा करनी चाहिए विपरीत भावना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उस भावना से समाधि नहीं होती है ॥ २३ ॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

हस्ति बल में संयम करने पर हस्तिबल प्राप्त होता है, गरुड के बल में संयम करने से गरुड का बल प्राप्त होता है। वायु बल में संयम करने से वायुबल प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

पूर्व में कथित मन की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के आलोक अर्थात् सत्त्व प्रकाश का सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट वस्तु में सन्निधान करने से अन्तःकरण या इन्द्रियों में प्रकृष्ट शक्तियों की प्राप्ति से इन वस्तुओं का ज्ञान उत्पन्न होता है। सूक्ष्म वस्तु = परमाणु आदि, व्यवहित वस्तु भूमि आदि के अन्दर की वस्तु, विप्रकृष्ट मेरु के पास की रसायन आदि वस्तुओं का ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

भुवनज्ञानं सूर्यसंयमात् ॥ २६ ॥

प्रकाशमय सूर्यमण्डल में संयम करने पर भुवन का ज्ञान होता है। सभी लोकों का अधः स्थान अवीचि = नरक है। वहाँ से लेकर सुमेरु पृष्ठ तक 'भू' लोक है। मेरु के पृष्ठभाग अर्थात् 'भू'-लोक के ऊपर के भाग से ध्रुव पर्यन्त ग्रह, नक्षत्र और तारा के द्वारा विचित्र अन्तरिक्ष (भुवः) लोक है। इसके ऊपर पाँच प्रकार का 'स्वः' या दिव् लोक है। तृतीय महेन्द्र लोक है। चतुर्थ प्राजापत्य 'महः' लोक है। इनके ऊपर तीन प्रकार का ब्रह्मलोक है—जनलोक, तपः लोक और सत्य लोक है।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
महेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजा ॥

अवीचि के ऊपर ऊपर छ महानरक भूमि है, जो मेघ, जल, अग्नि, वायु, आकाश और अन्धकार से प्रतिष्ठित है। इन नरकों का नाम निम्नलिखित क्रम में है :—महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव; कालसूत्र और अन्धतामिस्र। इन स्थानों में अपने कर्मों से अर्जित वेदना कष्ट को दीर्घ काल तक भोग करते हैं। अनन्तर महातल; रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, पाताल ये सात पाताल हैं। यह सात द्वीपोंवाली यह पृथिवी अष्टम है। पर्वतराज काञ्चनमय सुमेरु इसके मध्य में है इसके चाँदी, वैदुर्य, स्फटिक और हेममणिमय शृङ्ग हैं, इसमें वैदुर्य के प्रभाव से अनुरञ्जित होने से आकाश का दक्षिण भाग नीलकमल के पत्र के समान श्याम है। पूर्व भाग श्वेत है,

पश्चिम स्वच्छ है, उत्तर भाग स्वर्ण वर्ण पुष्प विशेष के समान है। दक्षिण पार्श्व में जम्बू है, इसीलिए यह जम्बूद्वीप है। सुमेरु के चतुर्दिक् निरन्तर सूर्य भ्रमण से रात और दिन संलग्न के समान अवगत होता है। सूर्य के सम्मुख दिन और पीछे रात्रि संलग्न है। सुमेरु के उत्तर दो हजार योजन विस्तृत नील श्वेत श्रृङ्गवत् नामक तीन पर्वत हैं। उनके मध्य में रमणक हिरण्मय और उत्तर कुरु नामक तीन वर्ष हैं। ये नव सहस्र योजन विस्तृत हैं। दक्षिण में दो हजार योजन विस्तृत निषध, हेमकूट और हिमशैल हैं। उनके मध्य में नौ नौ हजार योजन विस्तृत हरिवर्ष, किम्पुरुषवर्ष और भारतवर्ष नामक तीन वर्ष हैं। सुमेरु से पूर्व माल्यवान् पर्यन्त भद्राश्व एवं पश्चिम में गन्धमादन पर्यन्त केतुमाल है, मध्य में इलावृत वर्ष है जो छत्र के आकार में चारो ओर एक लक्ष योजन विस्तृत सुमेरु के पार्श्व में स्थित है। यह जम्बूद्वीप एक लक्ष योजन विस्तृत है, एवं यह इससे द्विगुण कङ्कण की आकृति वाले लवण सागर से व्याप्त है। उससे द्विगुण शाकद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाल्मलद्वीप, मगधद्वीप, पुष्करद्वीप ये सात द्वीप हैं, सात समुद्र द्वीप को वेष्टित किये हुये सरसों की ढेर के सदृश विचित्र पर्वतों से मण्डित है प्रथम लवण समुद्र से अतिरिक्त यथाक्रम में इक्षुरस, सुरा, घृत, दधि, मण्ड और दूध के समान स्वादु जल से युक्त है, पचास कोटि योजन विस्तृत वलयाकृति सात द्वीप, लोकालोक पर्वत से परिवृत सात समुद्र से वेष्टित है। ये सभी सुप्रतिष्ठित रूप में व्यूढ हैं, और यह अण्ड प्रधान के अणु अवयव हैं, जैसे आकाश में खद्योत, पाताल में जलधि में इन पर्वतों पर असुर, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अप्सरा, ब्रह्म राक्षस, कुष्माण्ड, विनायक रूप देवयोनि-शरीर निवास करते हैं। द्वीपों में पुण्यात्मा देव, मनुष्य निवास करते हैं। सुमेरु देवताओं की उद्यान भूमि है। वहाँ मिश्रवन, नन्दन, चैत्ररथ सुमानस ये चार उद्यान हैं। सुधर्मा, देवसभा; सुदर्शनपुर, वैजयन्तप्रासाद ग्रहनक्षत्रतारक सभी ध्रुव में निबद्ध हो वायु के विक्षेप से संयत हो भ्रमण करते हैं अर्थात् सुमेरु के ऊपर सन्निविष्ट हो घूमते हैं। छ देवशरीर माहेन्द्र के निवासी हैं—त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषि, अपरिनिर्मितवशवर्ती और परिनिर्मितवशवर्ती। सभी संकल्प-सिद्धि-सम्पन्न अणिमा आदि ऐश्वर्यों से सम्पन्न कल्पपर्यन्त आयुवाले हैं, देवगण इच्छानुसार, भोग करनेवाले, माता पिता के संयोग के विना लक्षण मात्र उत्पद्यमान शरीर वाले, उत्तम अनुकूल अप्सराओं के द्वारा परिवार सम्पन्न हैं।

इस लोक में पाँच प्रकार के देव शरीर हैं—कुमुद, ऋभव, प्रतर्दन, अञ्जनाभ, और प्रचिताभ–ये महाभूत के परिणमन में स्वतन्त्र, ध्यान मात्र से

तृप्तिसम्पन्न होने वाले कल्प सहस्र आयु वाले प्रथम जन लोक में चार प्रकार के देवगण हैं—ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक और अमर, ये भूत और इन्द्रिय के परिणमन में समर्थ अर्थात् जिस रूप में चाहे भूतों का और इन्द्रियों का नियोजन कर सकते हैं। द्वितीय तपः लोक में तीन प्रकार के देवगण हैं—आभास्वर, महाभास्वर, सत्यमहाभास्वर, ये भूत इन्द्रिय और पञ्चतन्मात्राओं का यथेच्छ नियोजन कर सकते हैं आभास्वर से द्विगुण आयु वाले महाभास्वर है, सभी ध्यान मात्र से तृप्त होते हैं, अप्रतिहत ज्ञान सम्पन्न अप्रतिहत तेजः सम्पन्न, अवीचि से तपोलोक तक के सभी सूक्ष्म और व्यवहित ज्ञान से सम्पन्न हैं। तृतीय ब्राह्मण के सत्य लोक में चार प्रकार के देवगण हैं—अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभा और संज्ञा संज्ञी, ये गृह निर्माण के विना अपनी आत्मा में ही प्रतिष्ठित रहते हैं ऊपर-ऊपर रहने वाली अर्थात् अच्युत से शुद्ध निवास इत्यादि प्रधान का यथेच्छ नियोजन करने में समर्थ अर्थात् इनकी सत्त्व, रजः, तमः में प्रवृत्ति होती है, सर्ग पर्यन्त आयु वाली इनमें अच्युत सवितर्क योग से ही सुखी है अर्थात् सूक्ष्म विषय ध्यान से तृप्त, शुद्ध निवास सविचारयोग ध्यान से सुखी, और सत्याभ आनन्दयोग ध्यान से सुखी, और संज्ञा संज्ञी अस्मिता ध्यान से सुखी, ये सब चतुर्दश भुवन में विराजमान हैं। इस प्रकार ये सातो लोक सभी ब्रह्म लोक है; विदेह प्रकृतिलय सम्पन्न व्यक्ति मोक्ष पद में रहते हैं, ये मुक्त-प्राय होने से ईश्वर कोटि में होने से ब्रह्माण्ड के अन्दर बाहर स्वतन्त्रता पूर्वक व्यापार शील लोक के मध्य में उनकी गणना नहीं है। सूर्य द्वारा अर्थात् सुषुम्णा नाड़ी में संयम कर इनका साक्षात्कार कर सकता है।

अर्थात् सुषुम्णा आदि सहस्र किरण मालाओं से देदीप्यमान मार्तण्ड मण्डल में संयम करने से दृश्य जगत् से अभिन्न चित्त सम्पूर्ण भुवन का साक्षात्कार कराता है। यही मधुमती सिद्धि है ॥ २६ ॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

चन्द्र में चन्द्रद्वार अर्थात् तालुके मूल भाग में संयम करने से ज्योतिः-समूह विशिष्ट अर्थात् नक्षत्रों का ज्ञान होता है ॥ २७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

निश्चल प्रधान ज्योतिः में संयम से ताराओं की नियत गति और नियत काल का ज्ञान होता है। इस ग्रह के साथ यह तारा इस मार्ग से इतने काल तक गमन करेगा ॥ २८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २६ ॥

शरीर मध्यवर्ती कदली कन्द के समान प्रथम उत्पन्न नाभि कन्द रूप है, इसके बाद शाखा पल्लव अदि के समान शिर पैर आदि अवयव ऊपर और नीचे उत्पन्न होते हैं। उसे षोडशारचक्र नामक नाभि चक्र में संयम करने पर वात-पित्त श्लेष्मा ये तीनों अन्तर्दोष त्वक्, लोहित, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये बाह्य दोष रूप काय-व्यूह का ज्ञान होता है। अर्थात् षोडशार नाभिचक्र में संयम करने के काम में जो व्यूह = विशिष्ट इस नाड़ी आदि की अवस्थिति है, उनका ज्ञान होता है ॥ २९ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

जिह्वा के नीचे तन्तु है और तन्तु के नीचे कण्ठ है, उसके नीचे कूप के समान गड्ढा के आकार का प्रदेश है, प्राण आदि का इसके साथ संस्पर्श से भूख प्यास आदि उत्पन्न होते है, उसमें संयम करने पर भूख प्यास की निवृत्ति होती है। घण्टी के नीचे स्रोत से धारण की भावना से यह सिद्धि होती है ॥ ३० ॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

कण्ठ कूप के नीचे कूर्माकार हृदय पुण्डरीक नाड़ी है, उसमें संयम करने पर चित्त स्थिर होता है उस स्थान में अनुप्रविष्ट होने पर चञ्चलता नष्ट हो जाती है। अथवा इसमें काय का स्पन्दन होने से इसको कम्पित करना सम्भव नहीं है ॥ ३१ ॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

शिरःकपाल में ब्रह्मरन्ध्र नामक छिद्रगत सुषुम्णा नाड़ीस्थ भौतिक तेज में यह छिद्र प्रकाश का आधार है। जैसे गृह के मध्य में स्थित मणि से निकलती हुई प्रभा कुञ्चित आकार के समान सभी प्रदेश में व्याप्त होती है, वैसे हृदय में स्थित सात्त्विक प्रकाश फैलकर पिण्ड रूप होता है। वहाँ पर संयम करने पर अन्तरिक्ष और पृथिवी के मध्य के अन्तराल में वर्तमान दिव्य पुरुषों का जो समान्य प्राणियों से अदृश्य है, उनका दर्शन होता है। इस प्रकार संयम शील व्यक्ति उनको देखता है, उनसे बात करता है ॥ ३२ ॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ २३ ॥

निमित्त की अपेक्षा के विना मन मात्र से उत्पन्न अविसम्वादी = यथार्थ सहसा उत्पन्न ज्ञान प्रतिभा है, उसमें संयम करने पर प्रातिभ अर्थात् विवेक-ख्याति से पूर्व होने वाला तारक ज्ञान उत्पन्न होता है, जैसे सविता के उदय से पूर्व प्रभा का प्रादुर्भाव होता है वैसे ही विवेक ख्याति से पूर्व सर्व-विषयक

तारक ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान के होने पर संयम की अपेक्षा के विना ही सब कुछ जान लेता है॥ ३३ ॥

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

आत्म साक्षात्कार रूप संयम की मुख्य सिद्धि के निरूपण से पूर्व उसके संयम साधन चित्त के साक्षात्कार के साधन संयम का निरूपण कर रहे हैं। शरीर का स्थान विशेष हृदय है, वहाँ अधोमुख स्वल्प पुण्डरीक के अन्तः-करण सत्त्व का स्थान है, हृदयाकाश ब्रह्म पुर में दहर है, वही चित्तका स्थान है। वहाँ संयम करने पर अपने चित्तगत सभी वासनाओं और पर चित्तगत सभी वासनाओं को जानता है अर्थात् सभी वृत्तियों से युक्त चित्त का साक्षात्कार करता है ॥ ३४ ॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययातिशेषाद्भोगः परार्थान्यस्वार्थ-संयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

सत्त्वप्रकाश सुखात्मक प्रधान का परिणाम विशेष है, पुरुष भोक्ता अधिष्ठाता रूप यद्यपि रजोगुण और तमोगुण का अविनाभावी है, तथापि रजो गुण और तमोगुण का अभिभव कर विवेकख्याति=भेद ज्ञान के रूप में परिणत होता है अर्थात् पुरुष अन्य है और प्रकृति अन्य है। क्योंकि द्रष्टा पुरुष दृश्य स्वरूप बुद्धि सत्त्व से सर्वथा भिन्न है, दोनों के धर्म सर्वथा विभिन्न है, एक चेतन है और दूसरा अचेतन है, किन्तु भेद रूप से दोनों का ज्ञान न होने के कारण अर्थों का मैं ज्ञाता हूँ। इस तरह का एकत्वज्ञान ही भोग है, क्योंकि भोग करने वाली प्रकृति है, पुरुष नहीं है। दूसरे का अर्थ पुरुष में आरोपित कर सत्त्व के कर्तृत्वरूप से जो सुख दुःख का ज्ञान है, वही भोग है, ग्रहीता का स्वार्थ है और यह ग्रहीता पुरुषाकार है, सत्त्व स्वार्थ की अपेक्षा से शून्य पुरुषार्थ का साधन है, अर्थात् स्वरूप अवस्थिति पुरुष स्वरूप में अवस्थान ही वास्तविक स्वार्थ है अर्थात् अहंकार और सत्त्व का परित्याग कर चित्त की छाया की संक्रान्ति ही पुरुष ज्ञान है। अतः पुरुषाकार चेतन रूप में संयम करने पर पुरुष प्रज्ञा का साक्षात् विषय होता है। चित्त का साक्षात्कार कर चित्त से परे चित्त से परे चित्त का प्रति संवेदी पुरुष इस प्रकार का स्वालम्बनात्मक सत्त्व पुरुष को जानता है; यही पुरुष मात्र स्थिति होती है; पुरुष ज्ञाता और ज्ञान का विषय नहीं है, पुरुष मात्र स्थिति ही पुरुष ज्ञान है, पुरुष विषयक संयम करने पर पुरुष विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, पुरुष मात्र स्थिति ही पुरुष ज्ञान है। अतः पुरुष स्वरूप में संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है। इसका भी संयम करने पर द्रष्टा पुरुष की

स्वरूप प्रतिष्ठा होती है। अर्थात् पुरुष रूप अर्थ में संयम ही एक मात्र साधन है। इसके निरोध करने पर द्रष्टा की स्वरूप प्रतिष्ठा रूप कैवल्य होता है ॥ ३५ ॥

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

ये कहे गये फल विशेष प्रकृष्ट रूप सम्पन्न समाधि के लिए विघ्न कारक है। क्योंकि हर्ष एवं विस्मय आदि की उत्पत्ति से समाधि शिथिल होती है। श्रवण = कान से स्वर्ग के शब्द को भी जानता है। वेदन से दिव्यस्पर्श विषयक इन्द्रिय जन्य ज्ञान होता है, वेद्यतेऽनयेति वेदना, तान्त्रिकों के यहाँ यह स्पर्शेन्द्रिय की संज्ञा है, आदर्श चक्षुः इन्द्रिय से जन्य ज्ञान अर्थात् दिव्यरूप का ज्ञान सम्पन्न होता है। आसमन्ताद् दृश्यतेऽनुभूयते रूपमनेन इस व्युत्पत्ति के अनुसार आदर्श=चक्षुः इन्द्रिय है। आस्वाद रसनेन्द्रिय आस्वाद्यतेऽनेन इस व्युत्पत्ति के अनुसार रसनेन्द्रिय के प्रकर्ष से दिव्य विप्रकृष्ट रस का ज्ञान होता है। वार्ता अर्थात् घ्राणेन्द्रिय से दिव्य विप्रकृष्ट गन्ध की अनुभूति होती है। वार्ता शब्द से निष्पन्न तान्त्रिकी परिभाषा से घ्राणेन्द्रिय को कहा जाता है। वृत्तेघ्राणेन्द्रिय से उत्पन्न वार्ता गन्ध संवित् है ॥ ३६ ॥

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

पुरुष संयम करने से एवं उसके अभ्यास से व्युत्थित व्यक्ति को भी प्रातिभज्ञान के आविर्भाव से सूक्ष्म, व्यवहितविप्रकृष्ट, अतीत, अनागत ज्ञान सदा होते हैं। अर्थात् मन से ही व्यवहित अव्यवहित सभी ज्ञान होते हैं। व्युत्थान दशा में अर्थात् व्यवहार दशा में विशिष्ट फलदायक होने से ये सिद्धियाँ हैं ॥ ३७ ॥

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥३८॥

मन चञ्चल है, एकत्र चिरकाल तक आबद्ध होकर नहीं रह सकता है, शरीर में कर्माशय के कारण बन्धन में रहता है, क्योंकि कर्म भोग ही शरीर की स्थिति का साधन है। समाधि के द्वारा शरीर के निरपेक्ष होने पर देह और चित्त का सम्बन्ध भी शिथिल हो जाता है और नाडी मार्गों में मन का प्रचार कर विज्ञान से अन्य शरीर का आवेश होता है। अर्थात् योगी अपने चित्त को अपने शरीर से निकाल कर अन्य शरीरों में निक्षिप्त करता है, चित्त के अन्यत्र निक्षिप्त होने पर इन्द्रियाँ अनुव्रजन करती हैं। जैसे मधुकरराज का सभी प्रेक्षिकायें अनुव्रजन करती हैं, उठने पर उठ जाती है, कहीं प्रवेश करने पर प्रविष्ट हो जाती हैं, इसी चित्त के पर शरीर में प्रवेश करने पर इन्द्रियाँ अनुव्रजन करती हैं। ३८ ॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

आशय यह है कि समाधि के द्वारा धर्म और अधर्म शिथिल हो जाते हैं अर्थात् तनुता=शिथिलता को प्राप्त करते हैं। हृदय स्थान से चित्त का इन्द्रियों के द्वारा विषय की ओर गति होती है, उसका सम्वेदन ज्ञान चित्तवहा नाडी ही वहन करती है, रस, प्राण आदि को वहन करने वाली नाडियों से यह विलक्षण है, अपने या परशरीर में जब यह सञ्चार उत्पन्न करती है, तब परकीय जीवित या मृत शरीर चित्त सञ्चार द्वार से प्रविष्ट होता है चित्त का पर शरीर में प्रवेश होने पर इन्द्रियाँ भी अनुवर्तन करती हैं, पर शरीर में प्रविष्ट होने पर अपने शरीर के समान ही वहाँ व्यवहार करता है, चित्त और पुरुष के भोग के सङ्कोच में कर्म ही कारण है, उसकी समाधि की चित्त अवस्था होने पर स्वतन्त्रता पूर्वक सर्वत्र भोग की निष्पत्ति होती है ॥ ३९ ॥

समानजयात्प्रज्वलनम् ॥ ४० ॥

सभी इन्द्रियों की धान्य छिलके की (तुष) ज्वाला के समान एक साथ उठने वाली वृत्ति जीवन है। ये वायु क्रिया के भेद से पाँच प्रकार की है—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। हृदय से मुख और नासिका के द्वारा गतिशील प्राणवायु है। नाभि स्थान से पैर के अंगूठे तक गमन करने से अपान है। नाभि स्थान को परिवेष्टन करे चारों ओर गमन करने से समान है। नासिका के अग्र भाग से शिरः पर्यन्त गतिशील उदान है, सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त व्यान है। इनमें प्राण श्रेष्ठ है। उद्ध्र्वगामी प्राणवायु है इससे उत्पन्न सम्पूर्ण शरीर व्यापिनी ऊद्ध्र्व गमनशील स्पर्श वेदना का ध्यान कर्ता आलम्बन करता है, उस आलम्बन में संयम करने से शरीर की लघुता होती है, ऐसा होने पर योगी अपनी इच्छा से अर्चिरादि मार्ग से गमन में समर्थ होता है जैसे महानदी आदि में जन्में कण्टक आदि में ऊध्र्व गमन रहता है। रूई के पिण्ड के समान जल में निक्षिप्त करने पर भी उपर आ जाता है। प्रकृत में भी लघुता आने पर सर्वत्र गमन में सक्षम होता है। इन पर सोने पर भी असङ्ग रहता है।

नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय के भेद से प्राण वायु के पाँच और भेद हैं। उद्गार में नाग, उन्मीलन में कूर्म, क्षुधा में कृकल वायु और विजृम्भण में देवदत्त और सर्वव्यापी धनञ्जय मृत को भी नहीं छोड़ती है। इनमें प्राण प्रधान है, प्राणों का उत्क्रमण करने पर सभी प्राणों का उत्क्रमण होता है, उदान के संयम से जल पङ्क कांटों आदि के ऊपर सञ्चरण करने पर भी असङ्ग रहता है, इनके द्वारा विकार को उत्पन्न करने वाला संसर्ग नहीं होता

है, अतिशय लघु शरीर होने के कारण ऊपर ही रहता है। वह योगी गगनगामी होता है ॥ ४० ॥

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

अग्नि का आवेष्टन कर स्थित समान नामक वायु के संयम से वह्नि का आविर्भाव होता है, उस तेज से जलते हुए के समान योगी रहता है अथ वा वह्नि का उत्तेजन कर सती के समान अपने शरीर को जलाता है।

अहंकार से शब्दतन्मात्र और श्रोत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। शब्द-तन्मात्र से शब्द गुणक आकाश उत्पन्न होता है। कर्ण शष्कुली विवर से अवच्छिन्न आकाश ही आधार है। इसी प्रकार शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श रूप गुणों से अधिष्ठित द्रव्य है। जैसे शब्द का आकाश, गन्ध का पृथ्वी, रस का जल, स्पर्श का वायु, रूप का तेज। आहंकारिक श्रोत्र अयः लौह के समान है, अतः अयस्कान्त मणि के समान वक्ता के मुख से उत्पन्न वक्तृस्थ शब्द से आकृष्ट वृत्ति परम्परा से वक्ता के मुख में आगत शब्द का ग्रहण करता है। इस विभिन्न दिशा और देशवर्ती के रूप में शब्द की प्रतीति सभी लोगों के अनुभव से सिद्ध है, श्रोत्र का अधिष्ठानत्व और शब्दगुणत्व यही आकाश का लक्षण है, इसी प्रकार अनावरण भी आकाश का लक्षण माना गया है। अतः शब्द-तन्मात्र का परिणाम विशेष अनावरणकृत नभ है। दिशा भी भिन्न-भिन्न उपाधियों से विशिष्ट आकाश ही है। अनावरण की सर्वत्र उपलब्धि होने से आकाश की विभुता = व्यापकता सिद्ध होती है। इस श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध का संयम करने से साक्षात्कार करने पर शब्द तत्त्व रूप सम्बन्धी, आकाशतत्त्व रूप सम्बन्धी, श्रोत्रतत्त्व रूप सम्बन्धी साक्षात्कृत होते हैं, आकाश एक है, अतः यावत् रूप से साक्षात्कृत होने पर उससे सम्बद्ध सभी सूक्ष्म, विप्रकृष्ट व्यवहित और अनागत शब्दों का साक्षात्कार होता है। यह त्वक् वायु आदि का भी उपलक्षण है। अर्थात् अहंकार से उत्पन्न त्वक् इन्द्रिय और स्पर्श है, स्पर्श से शब्द स्पर्श गुणक वायु उत्पन्न होता है, यह वायु त्वक् और स्पर्श का आश्रयभूत है, अतः आश्रय स्वरूप संसर्ग के संयम से योगी का दिव्य त्वगिन्द्रिय हो जाता है और इससे सूक्ष्म, व्यवहित अनागत स्पर्श का ज्ञान करता है ॥ ४१ ॥

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाऽऽकाशगमनम् ॥४२॥

इसी प्रकार अहंकार से उत्पन्न चक्षुः इन्द्रिय और रूप है। रूप से शब्द स्पर्श रूप गुणक तेज उत्पन्न होता है, यह चक्षुः और रूप का आश्रय भूत है, यहाँ आश्रय स्वरूप संसर्ग में संयम करने से योगियों की दिव्य चक्षुः

होती है, दिव्य चक्षु होने पर सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट अनागत रूप का ग्रहण करता है।

इसी प्रकार अहंकार से रसना इन्द्रिय और रस उत्पन्न होता है। रस से शब्द स्पर्श रूप रस गुणात्मक जल उत्पन्न होता है, यह जल रसना और रस का आश्रय है, अतः आश्रय रूप सम्बन्ध में संयम करने पर योगियों की दिव्य रसना इन्द्रिय सम्पन्न होती है, यह सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट और अनागत रस का ग्रहण करती है।

इसी प्रकार अहंकार से उत्पन्न घ्राण इन्द्रिय और गन्ध है, गन्ध से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध गुण वाली पृथिवी उत्पन्न होती है और वह घ्राण और गन्ध की आश्रयभूत है। उस आश्रय रूप संसर्ग का संयम करने पर योगियों को दिव्य घ्राण सम्पन्न होता है। इससे सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, और अनागत गन्ध का ग्रहण होता है।

पाञ्चभौतिक शरीर का आकाश के साथ व्याप्यव्यापक भाव सम्बन्ध होता है। क्योंकि जहाँ शरीर रहता है वहाँ देश और काल के अवच्छेद शरीर को व्याप्त कर, आकाश रहता है। अवकाश प्रदान करने वाला आकाश ही है, उसके विना शरीर की स्थिति सम्भव नहीं है, इस व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध में संयम करने पर योगी उसके संसर्ग का साक्षात्कार करता है और इस संसर्ग के साक्षात्कार से आकाश को अपने अधीन करता है, इसके बाद गुरुत्व का संयम कर गुरुत्व का साक्षात्कार कर अपने शरीर के गुरुत्व का संकोचन करता है। इसके बाद लघु तेज और रूई आदि में समापत्ति तन्मयता को प्राप्त कर अपने शरीर की लघुता का सम्पादन कर लेता है, इसके बाद अपनी इच्छा के अनुसार प्रथम परमाणु के समान लघु शरीर होकर पृथिवी के समान ही जल पर चलता हुआ मकड़े के जाल से घूमता हुआ सूर्य किरणों से विहार करता हुआ अपनी इच्छा के अनुसार आकाश में घूमता है ॥ ४२ ॥

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

शरीर में स्थित ही मन बाह्य देशमें स्थित विषय का संकल्प करती है, सङ्कल्पात्मिका वृत्ति बाह्य देशस्थ विषय के साथ सम्बन्ध प्राप्त कर विषयाकार होती है। इस शरीर के अन्तःस्थ मन की संकल्पात्मिका वृत्ति देह को छोड़-कर अन्यत्र विषय में संक्रान्त होने पर उस वृत्ति को विदेहा कहते हैं—यह कल्पिता है। इसके बाद योगी अपने योग के सामर्थ्य से अपने मन को शरीर से वियुक्त कर बाह्य विषय में स्थित करता है तब बाह्य देश में स्थित मन बाह्य विषय को बाह्य वृत्ति से सङ्कल्प करता है, यह संकलपात्मिका वृत्ति

महा विदेहा कही जाती है। वही विषय-देश में जाकर मन से साक्षात् प्राप्त होने से अकल्पिता कही जाती है। इस महाविदेह वृत्ति से योगी अन्य के शरीर में प्रवेश करते हैं। इस वृत्ति में संयम कर योगी रजोगुण और तमोगुण मूलक क्लेश कर्म जाति आयु भोग का प्रकाशात्मक बुद्धिसत्त्व अभिभव=नाश करती है, क्लेशों के नाश से निरावरण योगी का चित्त यथेष्ट पर-शरीर आदि में विहरण करता है और वहाँ का वृत्तान्त जानता है॥ ४३॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः॥ ४४॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच भूत पदार्थों की पाँच अवस्था विशेष रूप धर्म स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, और अर्थवान् हैं। चेतन से अतिरिक्त सभी पदार्थों में ये गुण रहते हैं। इनमें संजय होने पर भूतगण उसके वश में हो जाते हैं। भूतों का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये विशेष है। शब्द षड्ज, गान्धार, निषाद, ऋषभ, मध्यम, धैवत और पञ्चम है। शीत उष्ण, अनुष्ण-अशीत स्पर्श है, शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपीश, चित्र सप्तविध रूप है। मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तीता ये छ प्रकार के रस हैं। सुरभि और असुरभि दो प्रकार के गन्ध हैं। इनमें पाँच पृथिवी में है, गन्ध से अतिरिक्त चार जल में है। गन्ध और रस से रहित तीन तेज में। रूप रस गन्ध से अतिरिक्त दो वायु में है। शब्द मात्र आकाश में है। पूर्वोक्त इन स्वरूप धर्मों से युक्त स्थूल है। स्थूल रूप में संयम से सभी स्थूल धर्मों का जय होता है।

स्वरूप अर्थात् इनके धर्म में पृथिवीत्व आदि में संयम करने पर भूत तत्त्व अधीन होते हैं।

सूक्ष्म तन्मात्र अर्थात् शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का संयम करने पर सूक्ष्म तत्त्व वश में होते हैं।

चतुर्थ रूप अन्वय-अर्थ प्रकाश प्रवृत्ति नियम, सत्त्व, रजः, तम, नामक गुण अर्थात् कार्य स्वभाव के अनुगमनशील जो भूतों में अन्वयित्व होकर उपलब्ध हो रहे हैं, इनका संयम करने पर तीनों गुणों का जय होता है। अर्थात् प्रकृति अपने वश में होती है। पञ्चम रूप अर्थवत्त्व अर्थात् भोग और अपवर्ग रूप शक्तियाँ हैं। इनके संयम से अर्थात् शक्ति विशेष में संयम होने पर शक्ति पर जय होती है। इस प्रकार पाँच अवस्थाओं से भिन्न में प्रत्येक अवस्था का जय करता हुआ योगी भूतजयी है, वत्स के अनुसार जैसे गौ चलती हैं, वैसे ही प्रकृति इस योगी के पीछे चलती है। अर्थात् संकल्प के अनुसार ही इसके कार्य होते हैं॥ ४४॥

इन भूतों पर जय होने पर अर्थात् पाँच प्रकार के संयम से अणिमा आदि चार सिद्धियाँ होती हैं। अणिमा=परमाणु के समान महान् भी अणु होता है। लघिमा गुरु वस्तु भी रूई के समान लघुता को प्राप्त करती है और यथेच्छ आकाश में विहरण करता है। महिमा-अल्प भी हाथी पर्वत एवं गगन के परिमाण का होता है। प्राप्ति=सभी पदार्थ जो दूर हैं, वे भी सन्निहित हो जाते हैं, पृथिवी पर रहकर अङ्गुलि के अग्र भाग से चन्द्र का स्पर्श कर सकता है। प्राकाम्य=स्वरूप संयम जय से यह सिद्धि होती है, अर्थात् इच्छा का अभिघात नहीं होता है, जैसा संकल्प करता है, वैसा ही होता है। जल में भी पृथिवी के समान गमन कर सकता है।

सूक्ष्म विषय संयम जय से 'वशित्व' सिद्धि होती है, सभी स्थूल और सूक्ष्म भूत अनुगामी अर्थात् उसके अधीन होते हैं।

अन्वय विषय के संयम जय से ईशित्व सिद्धि होती है। ईशित्व अर्थात् ऐश्वर्य सम्पन्नता जिन विषयों में योगी की जैसी इच्छा होती है, वह विषय उसी रूप से समाप्ति पर्यन्त प्राप्त होता है।

अर्थवत्त्व के संयम जय से कामावसायित्व सिद्धि होती है अर्थात् योगी सत्य संकल्प होता है। गुण शक्ति पर विजय होने से, जिस वस्तु का जिस रूप में संकल्प करता है, वह उस प्रयोजन की सिद्धि के लिए होता है। विष को भी अमृत कार्य के संकल्प से भोजन कराने पर उससे वह जीवन लाभ करता है। इतनी सिद्धियों के होने पर भी परमेश्वर की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं कर सकता वरन् शक्ति विशेष की उत्पत्ति होती है।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

इसी प्रकार कार्यसम्पत् होती है। शरीर के रूप आदि का किसी भी प्रकार नाश नहीं होता है, न अग्नि जलाती है और न वायु शोषण करती है। आकाश में स्थिर हो सकता है, आकाश में आवरण शून्यता रहने पर भी अदृश्य हो सकता है ॥ ४५ ॥

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥ ४६ ॥

नेत्र प्रिय रूप, सर्वाङ्ग सौन्दर्य अर्थात् दर्शनीयता रमणीयता गौर अङ्ग होना, वाणी, मुख, नेत्र आदि में अन्य के मन को हरण करने की क्षमता, तेज, ओजः से सामर्थ्य सम्पन्न होना, शरीर का वज्रसंहनन के लिए कठिन संस्थान होना काय सम्पत् है ॥ ४६ ॥

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और के संयम से इन्द्रिय जय होता है।

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों की शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्धों में वृत्ति अर्थात् विषयाकार बुद्धि का परिणाम इसी प्रकार वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों की वचन, आदान, विहरण, उपस्थ, आनन्द रूप वृत्ति एवं मन की संकल्पात्मक वृत्ति के संयम से वृत्तियों का जय होता है।

स्वरूप शब्द से इन इन्द्रियों के धर्मों का निर्देश है, जैसे श्रोत्र का श्रोत्रत्व, रसना का रसनत्व आदि इन रूपों के संयम से इनके तत्त्व वश में होते हैं।

अस्मिता=अहंकार यह इन्द्रियों का कारणीभूत सूक्ष्मतत्त्व है, इनके संयम से अहंकार पर जय होता है, वे योगी के अधीन हो जाते हैं।

अन्वय = प्रकाश प्रवृत्ति नियम रूप तीन गुणों के संयम से सत्त्व, रजः, तमः के सभी कार्य इन्द्रियों के लिए सुलभ होते अर्थात् अनुगमनशील होते हैं। अर्थवत्त्वयोग, अपवर्ग सम्पादन शक्ति अर्थ है, इस शक्ति के संयम से सम्पन्न व्यक्ति शक्ति पर जय लाभ करता है। इन संयमों से इन्द्रिय जयी होता है ॥ ४७ ॥

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

इन पूर्वोक्त पाँच संयमों से इन्द्रिय जय के बाद मन के समान शीघ्र गमन शरीर में प्राप्त होता है। इन्द्रियों की स्थूल शरीर की अपेक्षा के विना ही सर्वत्र वृत्तिलाभ अर्थात् ज्ञान होता है, एवं प्रधान जय अर्थात् प्रकृति का अपनी इच्छा के अनुसार परिणाम लाभ कराने का सामर्थ्य—ये तीन इन्द्रिय जय से होता है। यही मधुप्रतीका सिद्धि है ॥ ४८ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

शुद्ध प्रकाशात्मक सात्त्विक बुद्धितत्त्व के संयम करने पर सत्त्व और पुरुष की अन्यथा ख्याति उत्पन्न होती है। अर्थात् बुद्धि कर्त्री होती है और शुद्ध चेतन पुरुष उससे भिन्न है। प्रकृति पुरुष के विवेक ज्ञान = भेद ज्ञान में संयम करने वाला योगी सभी विषयों का ज्ञाता हो जाता है। सभी त्रिगुण परिणामी पदार्थों का स्वामी के समान होता है। सभी गुण परिणाम पुरुष रूप स्वामी के प्रति सर्वथा योग्यत्व रूप से उपस्थित होते हैं। यह योगी प्रकृति के सभी कार्यों का नियमन करने वाला हो जाता है। जिस विषय का संकल्प करता है, सभी विषय उसके सम्मुख उपस्थित होते हैं। सभी शान्त उदित अव्य-पदेश्य धर्मत्व रूपसे अवस्थित त्रिगुण परिणामों का एवं बद्ध युक्त और ईश्वर

का एक साथ विवेकजन्य ज्ञान होता है। यह सर्वज्ञता यथार्थ साक्षात्कार कही जाती है। यही परवशीकार संज्ञक वैराग्य भूमि से सम्पादित होने योग्य विशोका नाम की ज्योतिष्मती सिद्धि है ॥ ४९ ॥

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

बुद्धि-तत्त्व में संयम करने के बाद योगी को विवेक ख्याति होती है अर्थात् परिणमन शील जड़ बुद्धि भिन्न है और अपरिणामी शुद्ध चैतन्य अन्य है—यह ज्ञान होता है। ऐसी स्थिति में वशीकार संज्ञक वैराग्य की सहकारिता से बुद्धि-सत्त्व हेय रूप में व्यवस्थित होता है। वासनात्मक सभी क्लेश के बीज भूजे गये धान्य के समान फल उत्पादन में असमर्थ हो जाते हैं और चित्त के साथ लय हो जाते हैं, इस अवस्था में पुरुष को आत्यन्तिक गुण वियोग रूप कैवल्य होता है। यही द्रष्टा का स्वरूप अवस्थान है ॥ ५० ॥

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

चार प्रकार के योगी होते हैं।

(१) अभ्यास सम्पन्न संयम में प्रवृत, परचित्त आदि का ज्ञान उसको नहीं रहता है।

(२) द्वितीय संप्रज्ञात योग से मधुमती चित्त भूमि, ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त कर भूत इन्द्रियों का साक्षात्कार कर जय की इच्छा करता है, इनके जय से मधुप्रतीक, विशोक और संस्कार शेष इन तीन भूमियों की प्राप्ति की कामना करता है।

(३) प्रज्ञा ज्योतिः—भूत और इन्द्रियों की जय होने से महेन्द्र और राक्षस से दो भूमियों की प्राप्ति कर विशोका आदि दो भूमियों की साधन की इच्छा से स्वार्थ संयम में सयत्न रहता है।

(४) अतिक्रान्त भावनीय :—इस चतुर्थ समाधि में सात प्रकार की प्रान्त भूमियों को जानने वाला होता है। भगवान् महानुभाव एवं विवेक पर्यन्त भूमियों को जानकर विरक्त विघ्न की आशङ्कासे सर्वथा शून्य जीवन्मुक्त के रूप में चतुर्थ भूमि में अवस्थित रहता है।

इनमें प्रथम योगी देवताओं के निमन्त्रण के योग्य नहीं रहता है। अतः द्वितीय स्थानीय योगी स्थानीय इन्द्र आदि से प्रार्थित होता है। योगिवर! यहाँ बैठे, स्वर्ग आदि में रमण करें, कमनीय स्वर्गीय कन्या को स्वीकार करें, वार्धक्य और मृत्यु से छुटकारा दिलाने वाली इस दिव्य रसायन का सेवन करें, इस यथेच्छ गमनशील विमान का सेवन करें, ये सभी कल्प वृक्ष आदि आप ही के लिए भोग्य हैं, इस प्रकार के प्रलोभन से उन पदार्थों

में आसक्ति एवं कितना प्रबल मेरा योग का प्रभाव है, इस प्रकार का विस्मय न करें, वरन् इनमें दोष की भावना करें। अर्थात् यह चिन्तन करें कि किस प्रकार इस भयङ्कर भवाग्नि से पुनः-पुनः सन्तप्त किसी प्रकार क्लेश आदि अन्धकार के नाशक योग दीप्ति की प्राप्ति की है, इस योग की तृष्णा आदि विषय साधना प्रतिकूल है। किसी प्रकार आलोक प्राप्त कर इनसे रहित हो कर पुनः प्रदीप्त संसार अग्नि में अपनेको लकड़ी के रूप में सन्निहित करता है। अतः इस स्वप्न सदृश कृपण जन प्रार्थनीय विषयों से अलग रहने में ही मेरा कल्याण है। इस प्रकार स्थिरमति पुरुष श्रेष्ठ समाधि की भावना करता है यदि इन विषयों में पुनः आसक्ति होती है तो योग भ्रष्ट होता है और संसार में श्रीमान् के गृह में जन्म लाभ करता है। अतः स्वामियों से उपनिमन्त्रित होकर भी इस अनिष्टजनक आसक्ति और विस्मय को प्राप्तकर संसार में पुनः अवतीर्ण न हो ॥ ५१ ॥

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

काल के अवयवों का-सबसे अन्तिम अवयव जिसकी कला नहीं हो सकती है, अर्थात् अभेद्य काल का भाग है। क्षणों का समूह वस्तुतः सत् नही है। घट आदि अवयवी की विश्रान्ति परमाणु में होती है वैसे ही काल की अन्तिम विश्रान्ति क्षण में है। इन क्षणों का अविच्छिन्न प्रवाह रूप क्रम है। अतः क्रम और क्षण का संयम करने पर सभी वस्तुओं का जो परिणाम है एवं जो क्रम है उनका ज्ञान अर्थात् सूक्ष्म महत्तत्त्व आदि का ज्ञान एवं सभी से भिन्न रूप में पुरुष का ज्ञान होता है ॥ ५२ ॥

आशय यह है कि यह काल क्षण है इस काल क्षण से उत्तर है, यह इससे पूर्व है इस रूप में अत्यन्त सूक्ष्म क्रम का साक्षात्कार होने पर विवेक पूर्वक पुरुष का ज्ञान होता है, सत्त्व पुरुष के भेद से जायमान विवेक का ज्ञान से सभी वस्तुओं का अशेष रूप से साक्षात्कार होता है। सभी वस्तु प्रतिक्षण परिणामी होते हैं, अतः क्षणों में और क्रमों में संयम साक्षात्कार होने से सभी वस्तुओं और क्रमों का ज्ञान होने से वस्तुओं का भेदपूर्वक ज्ञान होता है ॥ ५२ ॥

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

सभी वस्तुओं के भेद के प्रयोजक जाति लक्षण और देश हैं, स्थल विशेष में जाति के आधार पर भेद होता है। जैसे—मनुष्य और पशु का भेदक तत्त्व है मनुष्यत्व और पशुत्व रूप जाति। स्थल विशेष में समान जाति होने पर भी अश्वत्व जाति दोनों से समान रहने पर भी श्वेत अश्व और

कृष्ण अश्व इस प्रकार भेद की प्रतीति होती है। इनमें भेदक तत्व श्वेत और नील रूप लक्षण से परस्पर भेद सिद्ध होता है। स्थल विशेष में जाति और लक्षण इन दोनों की समानता होने पर भी देश अर्थात् स्थान भेदक होते है— जैसे मेरे पूर्व देश में स्थित आमलक और मेरे परदेश में स्थित यह आमलक है, इस प्रकार देश के आधार पर भेद होता है। एक देश में स्थित जिन तत्वों का जाति, लक्षण और देश के आधार पर भेद का ज्ञान न होने पर पूर्वोक्त क्षण और क्रम के संयम से भेद का ज्ञान होता है।

आशय यह है कि जाति, लक्षण और देश वस्तु के भेद का ज्ञापक होता है। किन्तु पूर्व देश में स्थित समान आकार के आमलक का अन्य आमलक से भेद उत्तर देश में स्थित आमलक होने से होता है। दैवयोग से दोनों आमलक एक देश में ही स्थित रहने पर पूर्व देश में उपलक्षित और उत्तर देश से उपलक्षित ये हैं—इस रूप में भेद नहीं हो सकता है। किन्तु क्षण और क्रम के सम्बन्ध से संयम सम्पन्न योगियों को क्षण के साथ पूर्व देश और उत्तरस्थ क्षण सम्बन्ध के आधार पर भेद सिद्ध होता है। क्षण संयम से ही विवेक ग्रह होता है, क्रम संयम के आधार पर भी ज्येष्ठ और कनिष्ठ विवेक ज्ञान क्षण साक्षात्कार के विना सम्भव नहीं है। पूर्वोक्त क्षण के आधार पर यथार्थ भेद ज्ञान पर होता है ॥ ५३ ॥

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

क्षण और क्रम के संयम के बल से अन्त्य भूमिका में उत्पन्न ज्ञान तारक है। अपार अगाध संसार से योगियों को तार देता है अर्थात् मुक्त करता है, अतः इसका नाम तारक है। तारक ज्ञान विवेक से उत्पन्न ज्ञान है, यह ज्ञान प्रतिभा से उत्पन्न स्वाभाविक और सर्व विषयक ज्ञान है। सभी अवस्थाओं से स्थूल सूक्ष्म आदि भेद से जितने भी परिणाम होते हैं अर्थात् जिन-जिन रूपों में तत्व अवस्थित हैं सभी विषय के होते हैं। निःशेष विशेष रूप से अक्रम अर्थात् एक क्षणोपारूढ़ सभी एक साथ विषय होते हैं। तारक ज्ञान के उदय होने पर योगी हाथ पर रखे गये आमले के समान सभी विषयों को देखता है ॥ ५४ ॥

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यात् ॥ ५५ ॥

विवेकजन्य तारकज्ञान के द्वारा सत्त्व और पुरुष की शुद्धि होने पर कैवल्य होता है। अर्थात् बुद्धिसत्त्व का पुरुष के साथ शुद्धि साम्य के समान होता है, तब कैवल्य होता है। पुरुष के उपाचरित अभिमान के त्याग से

उपाचरित भोग का अभाव ही शुद्धि है। अथवा तमो रजो गुण के मल का विभव होने पर बुद्धि सत्व की विवेक ख्याति से संस्कार शेष सभी वृत्तियों की शून्यता शुद्धि है। अनागत क्लेश बीज दग्ध होने पर विपाक संस्कार बीज विशद सत्त्व मात्र उपारूढ होने से बुद्धिसत्त्व होता है और वह भोग सम्पादन में अक्षम होता है। पुरुष प्रकृति भोग से निवृत्त होकर उपाचरित प्रकृति भोग के आभाव से सम्पन्न प्रकृति को देखता है और प्रकृति से असम्भिन्न स्वरूपमात्र से अवस्थित होता है, यही पुरुष की शुद्धता है। इस प्रकार दोनों की शुद्धि साम्य अवस्था के होने पर प्रारब्ध कर्म रूप प्रतिबन्ध की निवृत्ति के बाद पुरुष का कैवल्य होता है। विवेकजन्य तारकज्ञान से पुरुष प्रकृति के गुणों से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता है ॥ ५५ ॥

अथ चतुर्थः कैवल्यपादः

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

पूर्व प्रकरण में सिद्धियों के साधन और विभिन्न सिद्धियों का निरूपण किया गया है। पूर्व जन्मों के अभ्यस्त समाधियों के द्वारा जन्म, औषधि, मन्त्र, तप समाधि सिद्धियाँ लब्ध होती है। पक्षी का आकाश गमन देवादि की अणिमा आदि सिद्धियाँ या कपिल मुनि आदि को जन्म के साथ ही जायमान स्वाभाविक गुण ज्ञान आदि की प्राप्ति। ओषधि-सिद्धियाँ यथाः—पारद आदि रसायन के उपयोग से जरा, मरण आदि की निवृत्ति, यथा, च्यवन ऋषि रसायन के सेवन से जरा-शून्यत्व की प्राप्ति करते हैं, माण्डव्य मुनि का विन्ध्यवास करना, रसशास्त्र में अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर रस-रसायन के प्रयोग से यथेच्छगमन में वे समर्थ होते थें, तथा सोमरस पान के द्वारा सकल सिद्धियों से सम्पन्न होते थे।

मन्त्र जप से अनेक प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति का वर्णन उपलब्ध होता है।

तप के द्वारा विश्वामित्र आदि अनेक सिद्धों का वर्णन उपलब्ध होता है। समाधि के द्वारा सिद्धियाँ पूर्व प्रकरण में विस्तार पूर्वक वर्णित है। ये सिद्धियाँ पूर्व जन्म के योगाभ्यास के द्वारा ही उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार समाधिजन्य सिद्धि के समान ही अन्य सिद्धियों का भी कारण, अन्य जन्म में अभ्यस्त समाधि को ही माना है; मन्त्रादि निमित्त मात्र हैं। अतः इस जन्म में योग के अभ्यास से फल की प्राप्ति न होने पर भी जन्मान्तर की सिद्धियों के रूप में फल की प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

सिद्धियों के द्वारा शरीर, इन्द्रिय आदि की परिणति उपलब्ध होती है। अन्य जातीय शरीर, इन्द्रिय आदि का अन्य जाति के रूप में परिणाम होता है। जैसे—मनुष्य आदि शरीर से ही सिद्धि के बल से देव भाव की प्राप्ति होती है। उस समय सङ्कल्प और योगज धर्मों से अतिरिक्त कारण की अपेक्षा होती है या नहीं इसी के समाधान की दृष्टि से द्वितीय सूत्र कहा गया है। मनुष्यादि शरीर का देवादि जात्यन्तर रूप में परिणाम सत्त्व आदि विशेष रूपों की जो देव शरीर के आरम्भ के योग्य हैं, उनकी आपूर्ति से ही होती है। योग्यता की पूर्ति में अधर्म आदि प्रतिबन्धों की निवृत्ति के द्वारा योगी

का सङ्कल्प और योगज धर्म आदि निमित्त कारण हैं। इस सूत्र में 'जात्यन्तर. पद' महिमा आदि का उपलक्षण है। 'प्रकृत्यापूर' शब्द ह्रास का भी उपलक्षण है, अतः अणुत्व प्राप्ति के द्वारा अणिमा आदि सिद्धि भी कही गई है। इसीलिए वामनावतार में शरीर वृद्धि आपूर है और अगस्त्य के द्वारा समुद्र पान में समुद्र का अपगम विवक्षित है। कायव्यूह आदि अन्य देह की प्राप्ति प्रकृति के भिन्न रूप से आरम्भक संयोग से होती है। हिरण्यगर्भ आदि के द्वारा जगत् की सृष्टि प्रकृति के आपूरण से होती है। प्रकृति का आपूरण अन्य जीवों के अपने-अपने उपाधि के संयोग का भी उपलक्षण है, अतः योगी अन्य जीव के संयोग से गज, अश्व के रूप में निर्माण कर ऐश्वर्य का उपभोग करता है। प्रह्लाद आदि की भक्ति से जन्म सिद्धियाँ तपःरूप सिद्धि में ही सन्निविष्ट हैं—"अत्रयः परमो धर्मो भक्तिलेशेन जायते" यह वचन भक्ति को तपके आधिक्य रूप में निर्दिष्ट करता है॥ २॥

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रियवत्॥ ३॥

धर्म और अधर्म के कारण प्रकृति का आकर्षण मानने पर प्रकृति आपूरक कैसे होगी ? अर्थात् योगज धर्म और योगी के सङ्कल्पों से बल पूर्वक प्रकृति का आकर्षण मानने पर प्रकृति की स्वतन्त्रता जो सांख्य योग में स्वीकृत है— यह सिद्धान्त समाप्त हो जायगा। इस आशंका के समाधान के लिए ही पतञ्जलि ने कहा है कि—धर्म आदि निमित्त कारण महत आदि प्रकृति के प्रयोजक = प्रवर्तक नहीं हैं, क्योंकि वे सब भी प्रकृति के ही कार्य हैं प्रवृत्ति प्रकृति का स्वभाव है। अतः, निमित्तकारण से इन कार्यों के प्रतिबन्धक अधर्म आदि की निवृत्ति मात्र होती है। प्रतिबन्धक के भङ्ग होने से प्रकृतियाँ स्वयं ही उन विकारों का आरम्भ करती हैं। जैसे—कृषक जलपूर्ण खेत से अन्य खेत में जल जाने की इच्छा करता हुआ घेरा का भङ्ग-निवृत्ति ही करता है, गतिस्वभाव जल स्वयं ही चला जाता है। धर्म आदि का कोई प्रयत्न नहीं रहता है॥ ३॥

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्॥ ४॥

तत्त्व साक्षात्कार करने के बाद योगी एक साथ अनेक शरीर का निर्माण करता है, उस समय उन शरीरों से सम्बद्ध अनेक मन = चित्त रहते हैं या एक मन रहता है ? इसके समाधान में कहा है कि अस्मिता = अहङ्कार से सिद्ध सङ्कल्प से निर्मित अनेक चित्त होते हैं। अर्थात् अहङ्काररूप कारण से उत्पन्न अनेक चित्त होते हैं। अन्यथा एकचित्त से विरुद्ध भोग और समाधि का अनेक शरीरों में एक साथ होना सम्भव नहीं है॥ ४॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

यह सिद्ध है कि अनेक चित्तों का आविर्भाव शरीरभेद से होता है, ऐसी स्थिति में अनेक चित्तों के अभिप्राय भिन्न-भिन्न होंगे, अतः, अभिप्राय के भेद से चित्तों की एक चित्त के अनुसार प्रवृत्ति कैसे होगी ?

इसके समाधान में कहा गया है कि योगी का पूर्वसिद्ध जो चित्त है, वही चित्त सभी चित्तों का प्रयोजक = प्रेरक या अधिष्ठाता रहता है, अतः अवान्तर चित्तों का भी वही प्रेरक होता है। जैसे आत्मीय शरीर में मन ही चक्षु, हाथ आदि का इच्छा के अनुसार प्रेरक होता है, क्योंकि वह अधिष्ठाता है। इसी-प्रकार प्रकृत में सिद्ध चित्त ही अन्य चित्तों का प्रेरक या प्रयोजक होगा ॥५॥

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

कैवल्यपाद के प्रथम सूत्र के आधार पर चित्त का पाँच प्रकार माना जा सकता है (१) जन्मजन्य सिद्धि से युक्त। (२) औषधिजन्यसिद्धि से युक्त। (३) मन्त्रजन्य सिद्धि से युक्त। (४) तपोजन्य सिद्धि से युक्त। (५) समाधिजन्य सिद्धि से युक्त। इनमें ध्यानजन्य अर्थात् समाधिजन्य सिद्धि से युक्त चित्त कर्मवासना और क्लेशवासना से रहित होने के कारण अनाशय है, अर्थात् वासना से शून्य है, अतः समाधि से संस्कृतचित्त ही अपवर्ग योग्य होता है। क्योंकि राग आदि निबन्धन प्रकृति न होने से पुण्य और पाप का सम्बन्ध वहाँ नहीं है। अन्य सभी चित्तों में क्लेश कर्म विपाक आशय से सम्बन्ध रहता है जब तक ये रहेंगे, तब तक मोक्ष नहीं हो सकता है। ध्यानजसमाधि होने पर ही कैवल्य होता है ॥ ६ ॥

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

अपवर्ग योग्य समाधिजन्य चित्त अन्य चित्तों की अपेक्षा विलक्षण होते हैं, इसीप्रकार समाधि सिद्ध निष्पन्नयोग से क्षीणक्लेश योगी के कर्म भी अयोगियों से भिन्न होते हैं। योगी सन्यासी का कर्म मोक्ष मात्र फलप्रद होता है, न शुक्ल और न कृष्ण होते हैं। (१) शुक्ल कर्म, (२) कृष्ण कर्म, (३) शुक्ल कृष्ण कर्म, (४) अशुक्ल अकृष्ण कर्म। शुक्ल कर्म अन्तःयाग, जप, स्वाध्याय, तप आदि सुखफल को उत्पन्न करने वाला पुण्यजनककर्म है। कृष्णकर्म दुःख मात्र फल को देने वाला मलिन, अपेय-पान आदि निषिद्धकर्म है। शुक्ल कृष्णकर्म बहिर्याग युद्ध आदि अपने द्वारा विहित कर्म है, ये कर्म सुख दुःख उभय फल के जनक होते हैं, क्योंकि, हिंसा आदि दोषों का भी मिश्रण रहने से पाप के जनक होते हैं, ये कर्म मनुष्यों के हैं। अशुक्ल कृष्ण कर्म सन्यासी योगियों का है, ये बाह्य साधन-साध्य कर्म का परित्याग करते हैं, अतः इनका कर्म न शुक्ल न कृष्ण

है। क्षीण क्लेश होने से इनका कर्म कृष्ण नहीं है। योगजधर्म फल की प्राप्ति से शून्य होने से एवं ईश्वर समर्पित होने से शुक्ल भी नहीं है, अतः चित्तशुद्धि, विवेकख्याति के द्वारा ये कर्म मोक्ष फल को देने वाले हैं। फल-त्यागपूर्वक कर्मों का अनुष्ठान करने से ये कर्म फल के आरम्भक नहीं होते हैं।

इसी लिए कहा गया है—शुक्ल = शुभ कर्मों से देवत्व की प्राप्ति करता है, निषिद्ध कर्मों के आचरण से नरक यात्रा करता है, शुक्ल कृष्ण कर्मों के अनुष्ठान से मानवत्व को प्राप्त करता है।

शुभैराप्नोति देवत्वं निषिद्धैर्नारकीं गतिम्।
उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः ॥ ७ ॥

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

पूर्वोक्त तीन कर्मों के विपाक के अनुरूप वासना की अभिव्यक्ति होती है। अतः भोगवासना की अनभिव्यक्ति आदि से कदाचित् मोक्ष होने की सम्भावना नहीं है। ध्यानजन्य अनाशय चित्त की अपेक्षा रह ही जाती है।

ततः = तीन प्रकार के कर्मों से, जिस जातीयकर्म का जो विपाक उस विपाक के अनुगुण जो वासना है उसकी अभिव्यक्ति होती है। दैवकर्म फलोन्मुख होगा तो दैव के अनुरूप वासना की अभिव्यक्ति होगी वह तिर्यक् आदि की वासना की अभिव्यक्ति का वह कारण नहीं होता है।

आशय यह है कि दो प्रकार की कर्मवासना है, (१) स्मृतिमात्र फलक, (२) जन्म, आयुः, भोग फल देने वाली, शुक्लकर्म से देवशरीर की प्राप्ति के अनुगुण वासना होती है, उससे जाति, आयु, भोग देवता के शरीर में उत्पन्न होते हैं। इसीप्रकार शुक्ल कृष्ण कर्म से मनुष्य शरीर की प्राप्ति के अनुरूप वासना होती है, इसीप्रकार कृष्ण कर्म से स्मरण के अनुगुण जाति, आयुः और भोग होते हैं। जो संस्कार फल उत्पादक नहीं होते हैं, वे जन्मान्तर के व्यवधान रहने पर भी वर्तमान रहते हैं। अतः बीज रूप से संस्कार विपाक के पूर्व वर्तमान रहते हैं, सैकड़ों जन्म के व्यवधान होने पर भी उसप्रकार के शरीर के आरम्भ होने पर तदनुरूप स्मृतिफलक वासना प्रकट होती हैं और उनके अनुरूप शरीर का सम्बन्ध होता है। अतः वासना की अनभिव्यक्ति से अयोगियों के त्रिविध कर्मों से मोक्ष की सम्भावना नहीं है ॥ ८ ॥

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥९॥

पूर्वोक्त वासनाओं के कार्यकारणभाव की अनुपपत्ति का निराकरण करते हुए पतञ्जलि ने इस सूत्र की अवतारणा की है।

अनेक योनियों में घूमते हुए सांसारिक व्यक्ति किसी योनि का अनुभव कर जब हजारों योनियों के व्यवधान से पुनः उसी योनि को प्राप्त करता है, तब उस पूर्वभूत योनि में उस शरीर आदि के व्यञ्जक की अपेक्षा के द्वारा जो वासना प्रकट होती है, वे वासनाएँ उसके व्यञ्जक के अभाव से तिरोहित होकर पुनः उस प्रकार के व्यञ्जक शरीर आदि का लाभ करने पर प्रकट होती हैं। जन्म, देश, काल के व्यवधान होने पर भी वासनाओं का अपने अनुरूप स्मृति आदि फल के साधन में आनन्तर्य या नैरन्तर्य होता है। क्योंकि, स्मृति और संस्कार एक रूप है। अनुष्ठीयमान कर्म से चित्त के रहने पर वासनारूप संस्कार उत्पन्न होता है। वह स्वर्ग, नरक आदि फलों का अङ्कुरीभाव या याग आदि कर्मों की शक्ति के रूप में स्थित है, या कर्ता का वैसा योग्यत्व और भोक्तृत्व रूप सामर्थ्य है। संस्कार से स्मृति, स्मृति से सुख, दुःख का उपभोग और उनके अनुभव से पुनः संस्कार स्मृति आदि होते हैं। इस प्रकार स्मृति-संस्कार आदि भिन्न होने के कारण उनका आनन्तर्य न रहने से कार्य-कारण-भाव नहीं हो सकता है।

योगसिद्धान्त में अनुभव होने पर संस्कार होता है और संस्कार स्मृति के रूप में परिणत होती है, इसप्रकार एक ही चित्त के अनुसन्धाता के रूप में स्थित होने से कार्यकारण भाव दुर्लभ नहीं है।

आशय यह है कि जन्म, देश, काल से वासनाओं में व्यवधान होने पर भी अव्यवहित के समान कार्यकारण भाव होता है, क्योंकि, स्मृति और संस्कार एक आकार के हैं। स्मरण के प्रति समान जातीय संस्कार कारण है। मानव जन्म में किये हुए कर्मों के अनुरूप संस्कार पशु-जन्म का व्यवधान होने पर अन्य मनुष्य जन्म उत्पन्न स्मृति के प्रति कारण होते हैं, पशु जन्म आदि के अनुगुण संस्कार कारण नहीं होते हैं। पूर्व मानव-जन्म में अनुष्ठित कर्मों के अनुभव से वासनात्मक संस्कार उत्पन्न होते हैं, वह अङ्कुर रूप है, उससे स्मृति होती है, स्मृति से सुख दुःख का उपभोग होता है, और उसके अनुभव से पुनः संस्कार, स्मृति आदि होते हैं, जिसकी स्मृति एवं संस्कार भिन्न विषय के हैं वहाँ समानविषयक न होने से कार्यकारणभाव नहीं हो सकता है। समान विषय होना ही स्मृति और संस्कार में आनन्तर्य और कार्यकारणभाव है। इसलिए जन्म, देश और काल का व्यवधान होने पर भी संस्कार के द्वारा अपने समान आकार की स्मृति होती है, व्यवहित होने पर भी कार्यकारणभाव का उच्छेद न होने से आनन्तर्य में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है ॥ ९ ॥

तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

पूर्वोक्त विश्लेषण से अन्य जन्म की स्मृति के प्रति उनके अनुगुण पूर्व की वासना की कारणता सिद्ध होने पर भी यह वासना सादि है या अनादि है—इस आशङ्का के उत्तर में पतञ्जलि ने इस सूत्र की अवतारणा की है—ये वासनायें अनादि हैं, क्योंकि सदा सुख के साधन मुझे सुलभ हों, सुख साधनों से मेरा कभी भी वियोग न हो—यह महामोह रूप आशीर्वादात्मक सङ्कल्प जो वासना प्रयोग के हैं—वह अनादि है, अतः इससे प्रयोज्य संस्कार भी अनादि है। कारण के सन्निहित रहने पर अनुभव संस्कार आदि कार्यों की प्रवृत्ति का निवारण कैसे किया जा सकता है ? अनुभव एवं संस्कार आदि से अनुबिद्ध सङ्कोच विकासशील धर्म चित्त रूप अभिव्यञ्जक विपाक के रहने से फलरूप से परिणत होता है।

आशय यह है कि वासनाओं का प्रवाह रूप से अनादित्व है, क्योंकि आशीः अर्थात् सङ्कल्प नित्य है। 'मैं रहूँ' मेरी मृत्यु न हो इसप्रकार की प्रार्थना उत्पन्न सभी प्राणियों की नियत रूप से रहती है। यह प्रार्थना मरण दुःख के स्मरण के कारण ही होती है। यह जन्म न तो अनुभूत है, न अनुमित है, न श्रुत है, अतः पूर्व जन्म के अनुभव से उत्थित मरण वासना का अनुमान है, क्योंकि, देखा जाता है कि गिरने से काँपता हुआ बालक-हृदय सूत्र को दृढ़ता पूर्वक अवलम्बन करता है, यह कम्पन भय के कारण है। इस स्मृति को पूर्वानुभव निबन्धन ही मानना उचित है। कतिपय आचार्यों ने इसे स्वाभाविक माना है। किन्तु यह स्मृति, पूर्व अनुभव निबन्धन है, स्मृति होने से, मेरी स्मृति के समान पूर्व अनुभव है, इस अनुमान से कार्यकारणभाव की सिद्धि है। इस प्रकार बालक की मुस्कान में हर्षादि की अनुमिति पूर्ववासना का साधन है।

कमल का संकोच विकास भी स्वाभाविक नहीं है, सूर्य किरण संपर्क विकास के प्रति स्थिति स्थापक संस्कार रूप में कारण है। नागेशभट्ट ने कहा है चित्त अणुरूप नहीं है, क्योंकि, बड़ी-पूरी खाने के समय एक ही साथ पाँचों इन्द्रियों के ज्ञान की अनुभूति होती है। मन को अणु मानने पर अननुभूत क्रम की कल्पना माननी पड़ेगी। अतः दीप के समान सङ्कोच विकासशील चित्त का परिमाण मानना उचित है। देहप्रदेशवर्ती कार्य के देखने से देह से बाहर उसकी स्थिति मानने में कोई प्रमाण नहीं है, चूहा और हाथी के देह में शरीर के अनुरूप सङ्कोच और विकास उपपन्न होते हैं। आतिवाहिक शरीर के साथ पूर्वशरीर का त्याग और देहान्तर संयोग की उत्पत्ति से संसार भी सम्भव

होता है। इसीलिए अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष को यम ने बलपूर्वक खींचा—(अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमः) यह कथन उपपन्न होता है।

किन्तु, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि, मध्यम परिमाण मानने पर प्रलय में नाश हो जाने से अदृष्ट के आधार की अनुपपत्ति होगी। अतः, अहङ्कार गगनमण्डल के समान व्यापक होने से उसका कार्य चित्त की भी विभुता सिद्ध होती है। इसीलिए भाष्य में कहा गया है कि इस व्यापक की सङ्कोच विकासशाली वृत्ति है। अनाश्रय का देहान्तर साङ्कर्य्य के अभाव में कैसे आतिवाहिक आश्रयण करेगा, अतः, देहान्तर की कल्पना में अनवस्था है, इसका कर्षण सम्भव नहीं है, कर्षण न होने पर चित्त से सम्बन्ध न होने से, अर्थात् प्रत्यक्ष न होने से उसकी स्थिति में प्रमाण नहीं है, पूर्वोक्त आगम पुरुष का कर्षण सिद्ध करता है, वचन चित्त या सूक्ष्म शरीर पुरुष नहीं है। शक्ति अपरिणामी है। इसका कर्षण मुख्य नहीं हो सकता है, अतः गौणरूप से व्यवहार करना चाहिए। फलतः चिति या चित्त की वृत्ति का अभाव ही कर्षण है। गमन भी अन्य देश के अवच्छेद से वृत्तिलाभ ही है। इन्द्रियाँ अहंकार का कार्य हैं, अतः चित्त की सम्बन्धी है प्राण आदि उसी का उससे सम्बद्ध वृत्ति विशेष है। पाश से बाँध कर पुरुष का लेजाना अर्थवाद है, धर्म और अधर्म निमित्तक होने से सङ्कोच-विकासशाली वृत्ति है॥ १०॥

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः॥ ११॥

यह विचारणीय है कि वासना यदि अनादि और असंख्य है तो इनका उच्छेद सम्भव नहीं है और उच्छेद न होने पर मोक्ष नहीं हो सकता है। अनादि का भी विच्छेद होता है, जैसे प्रागभाव अनादि है, किन्तु इसका उच्छेद होता है। अतः अनादित्व अत्यन्त उच्छेद न होने में प्रतिबन्धक नहीं है। वासना के हेतु, फल और आश्रयरूप आलम्बन के नाश से नाश मानने में कोई आपत्ति नहीं है। अनुभव वासना का साधन है, अनुभव का कारण राग, द्वेष आदि हैं, राग और द्वेष का हेतु अविद्या है, अतः अविद्या ही परम्परा क्रम में वासना का हेतु है। शरीर, स्मृति आदि इसका फल है, बुद्धिसत्त्व या चित्त आलम्बन है। इन्हीं तीनों से वसनाओं का संग्रह होता है, अतः इनके अभाव अर्थात् अत्यन्त उच्छेद होने पर ज्ञान योग से विदेहमुक्ति के समय दग्धबीज के समान निर्मल होने से हेतु, फल और आलम्बन के नाश होने पर उनसे सम्बद्ध वासना का नाश स्वभावतः सिद्ध होता है॥ ११॥

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्॥ १२॥

योग में सत्कार्यवाद माना गया है, अतः असत् कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है और जो सत् है उसका नाश नहीं हो सकता है। वासना

द्रव्य स्वरूप से सत् है, अतः इसका विनाश कैसे हो सकता है ? विभिन्न धर्म परिणामी धर्मी सदा एक रूप से अवस्थित रहते हैं, वे अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करते हैं। वर्तमान, भविष्य, और अतीत तीन मार्ग हैं। वर्तमान मार्ग में व्यवस्थित धर्म भोग्य होते हैं, क्योंकि स्थूल अवस्था रहती है। अतीत और अनागत अवस्था लय की अवस्था है, अतः इस अवस्था का सूक्ष्म रूप रहता है। इसलिए, स्वरूपतः रहते हुए भी अभोग्य रहते हैं। अविद्या का अपने कारण चित्त में लय होने पर और चित्त का प्रकृति में लय होने पर प्रकृति से सर्वथा भिन्न शुद्ध आत्मा रहता है ।। १२ ।।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ।। १३ ।।

धर्म और धर्मी का स्वरूप निरूपण करते हुए कहा है कि ये कार्य रूप धर्म व्यक्त = अभिव्यक्त स्वरूप है, या सूक्ष्म रूप से अनभिव्यक्त स्वरूप है ? सभी सर्वदा सत्त्व, रजः और तमः रूप से त्रिगुणात्मक हैं। क्योंकि, सभी पदार्थों में सत्त्व = सुख, रजः = दुःख, और तमः = मोह रूप से, बाह्य का आभ्यन्तर से वाणी के आधार पर भेद होने पर भी इनका सर्वत्र अनुगम होता है। इसी लिए श्रुति में कहा गया है—"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"। कार्य और कारण के भेद से कार्य का ही दो रूप है, क्योंकि "रूप्यते = अवगम्यते अनेन रूपेणेति रूपम्" जिस रूप में अवगत किया जाता है—वह रूप है। यह सत्य है कि कार्य-रूपता आद्यन्त अवस्थित नहीं रहती है, किन्तु कारणरूपता तीनों काल में वर्तमान रहती है। क्योंकि, कारण रूप से वस्तु की सदा अवगति रहती है, अतः कार्य रूप की अपेक्षा कारणरूप पारमार्थिक कार्य का रूप है। कार्य अत्यन्त असत्त्व रूप में विवक्षित नहीं है। गुणों का परम रूप दृष्टिपथ में नहीं आता है, जो दृष्टिपथ में आता है; अर्थात् कार्यरूप वह मायात्मक तुच्छरूप है।

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ।।

पूर्व सूत्र के द्वारा ही यह व्यक्त किया गया है कि कार्य नित्य है। आदि अन्त में कार्य रूपसे वस्तु की उपलब्धि न होने के कारण ही अनभिव्यक्तावस्था से माया शब्द का प्रयोग किया गया है। ऐन्द्रजालिक के समान वस्तु क्षणविध्वंसी है ।। १३ ।।

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ।। १४ ।।

यह जिज्ञासा होती है कि त्रिगुणात्मक जगत् है, अर्थात् तीन गुण सर्वत्र मूल कारण हैं, तब एक धर्मी यह व्यवहार कैसे होता है ? क्योंकि सत्त्व रजः

और तमः इन तीन गुणों का परिणाम ही विचित्र जगत् है, यह मानने पर एक ही वस्तु का एक परिणाम एवं सत्कार्यवाद में किसी एक उपादान कारण में परिणत कार्य का आविर्भाव और तिरोभाव देखा जाता है। कार्य में दो और तीन कारणों में तिरोभाव मानने पर नियत कार्यकारण-भाव का नियम नहीं रहेगा। जैसे एक रसतन्मात्र से जल की अभिव्यक्ति होती है, त्रिगुणात्मक प्रकृति का परिणाम मानने पर महत्तत्त्व = बुद्धि का परिणाम सत्त्व का है, रजः का है या तमः का परिणाम है किसी एक का परिणाम नहीं माना जा सकता है, सभी कार्य सुख-दुःख-मोहात्मक है। तीनों गुणों का परिणाम मानने पर परिणत पदार्थों का किसी एक में तिरोभाव और आविर्भाव की व्यवस्था कैसे उपपन्न होती है ?

इसके समाधान में इस सूत्र की अवतारणा की गई है। तीन गुणों की कारणता रहने पर भी इन गुणों की अङ्ग और प्रधान भाव से स्थिति है, अतः अङ्गाङ्गिभाव-निर्वाहस्वरूप जो परिणाम है, उसकी एकता से एक की प्रधानता से एक से जन्यत्व और एकत्व रूप कार्य का व्यवहार होता है।

आशय यह है कि किसी स्थल में सत्त्व प्रधान रहता है तथा रजः और तमः गौण रहता है, वहाँ सत्त्व अङ्गी है, इससे जो कार्य उत्पन्न होता है, वह सत्त्व परिणामरूप सात्त्विक कार्य होता है—महत्तत्त्व = बुद्धि। जहाँ रजः की प्रधानता रहती है और सत्त्व और तमः गौण रहता है, उससे जो कार्य उत्पन्न होता है वह राजस कार्य होता है। यद्यपि सभी त्रिगुणात्मक हैं, किन्तु प्राधान्य और अप्राधान्य के कारण ऐसी स्थिति है। इसीप्रकार तमोगुण में भी समझना चाहिये। अतः किसी एक गुण की प्रधानता से एक वस्तु व्यवहृत होती है ॥ १४ ॥

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विविक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

विज्ञानवादी बौद्धों का कहना है कि विज्ञान से अतिरिक्त वस्तु के रहने पर परिणाम आदि की कल्पना उपपन्न हो सकती है, किन्तु परिणाम से अतिरिक्त वस्तु की सत्ता नहीं है। सभी पदार्थ विज्ञानात्मक हैं, वासना के कारण कार्यकारण के रूप में अवस्थित होकर भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देता है। विज्ञान से अतिरिक्त कोई तत्त्व अनुभूत नहीं होता है, पदार्थ स्वरूप से असत् है, विज्ञान स्वरूप ही सभी पदार्थ है। क्योंकि पृथिवी, जल, आदि भूत एवं इन्द्रियाँ विज्ञान से अतिरिक्त होते तो प्रकृति एवं पूर्वोक्त परिणाम आदि की कल्पना की जाती, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से विज्ञान से अतिरिक्त पदार्थ नहीं हैं, विज्ञान के पदार्थ व्यवहार के योग्य नहीं रहते हैं, क्योंकि जड

पदार्थ ज्ञान के बिना प्रकाशित ही नहीं होते हैं। ज्ञान स्वयं प्रकाश होने से उसकी व्यवहार विषयता के लिए अन्य की अपेक्षा नहीं होती है। जिस ज्ञान से जो जाना जाता है, वह उससे भिन्न नहीं होता है। नियत रूपसे जिसकी जिसके साथ उपलब्धि होती है, वह उससे भिन्न नहीं हो सकता है, जैसे, द्वितीय चन्द्र एक चन्द्र से भिन्न नहीं है। पदार्थ ज्ञान के साथ नियत रूप से उपलब्ध हो रहे हैं, अतः, पदार्थ ज्ञान से भिन्न नहीं है। इसी को व्यक्त करते हुए कहा गया है—

विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात्।
यथा तैमिरिकस्यासत् केशचन्द्रादिदर्शनम् ॥

अपारमार्थिक अर्थ का अवभासन करने से विज्ञान ही एक मात्र सत् है, जैसे तिमिर रोगग्रस्त व्यक्तियों को असत् केश एवं दो चन्द्र का ज्ञान होता है।

उन लोगों ने कहा है कि ज्ञान और अर्थ की साथ में ही प्राप्ति होती है, अतः ज्ञान और अर्थ का भेद भ्रान्ति मूलक है, जैसे-दो चन्द्र का दर्शन आदि।

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्य-इन्दाविवाद्वये ॥

इसके समाधान में कहा गया है कि विज्ञान से पदार्थ अभिन्न हैं—यह मानने पर ज्ञानाकार घटगत बाह्यत्व-स्थूलत्व आदि धर्मात्मता विज्ञान की माननी पड़ेगी, किन्तु, ऐसा नहीं हो सकता है, अनेक स्थानों में व्याप्त स्थूलता एवं विच्छिन्न = सीमित देशात्मक बाह्यत्व का तद्देशत्व एवं अतद्देशत्व रूप विरुद्ध धर्म होने से उनसे तादात्म्य संसर्ग का एक स्थल में 'यह स्थूल घट' इस विज्ञान में रहना सम्भव नहीं है, क्योंकि, विज्ञान से अभिन्नत्व के अभाव वाले स्थूलता आदि में विज्ञानवेद्यता व्यभिचरित है, सभी वस्तुओं को विज्ञानाकार मानने पर स्वरूपतः विज्ञान की एकता होने से सभी व्यवहारों का साङ्कर्य होने लगेगा। विज्ञान का भेद मानने पर कोई विनिगमक मानना पड़ेगा, उस विनिगमक को भी विज्ञानात्मक मानने पर उसके लिए अन्य विनिगमक की आवश्यकता होगी—इस प्रकार अनवस्था होगी। अतः विज्ञानाकार वस्तु नहीं है। इसी विषय का विश्लेषण करते हुए पतञ्जलि ने कहा है कि ज्ञान और अर्थ का विभिन्न मार्ग है, दोनों एक नहीं हैं। वस्तु की समानता रहने पर भी चित्त का भेद उपलब्ध होता है।

स्त्री धन आदि समान वस्तुओं की उपलब्धि होने पर भी व्यक्ति की सुख दुःख और मोह रूप चित्त के भेद की उपलब्धि होती है। एक ही रूप लावण्य सम्पन्न कामिनी में राग सम्पन्न अपने पति के लिए वह सुखकर है,

वही स्त्री अपनी सपत्नी अर्थात् सौत के लिए द्वेष के कारण दुःखकर और विराग सम्पन्न अन्य साधुओं के लिए वह घृणा या उदासीनता की सम्पादक है। वस्तु विज्ञानाकार अर्थात् एक चित्त का कार्य मानने पर वस्तु एक रूप से ही अवभासित होगी। अनेक व्यक्तियों के द्वारा वस्तुओं की उपलब्धि होती है, एक चित्त का कार्य मानने पर जिस चित्त का कार्य वह होगा, उसी को वह वस्तु उपलब्ध हो सकती है, अन्य को नहीं हो सकती है, अतः विज्ञान से अतिरिक्त बाह्य वस्तु है एवं विज्ञान और अर्थ में तादात्म्य भी नहीं है तथा इन दोनों में कार्यकारण भाव भी नहीं है ॥ १५ ॥

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

ज्ञान और अर्थ की एकता न होने पर भी दोनों को समानकालिक मानने में क्या आपत्ति है? जिस काल तक ज्ञान की सत्ता है, उतने ही काल तक अर्थ की भी सत्ता है, जिस कालविशेष में जिस विषय के ज्ञान की सत्ता नहीं है, उस काल विशेष में उस विषय की भी सत्ता नहीं हो सकती है, अतः ज्ञान और ज्ञेय पदार्थ की समान सत्ता है। इस आशङ्का के समाधान में पतञ्जलि ने इस सूत्र की अवतारणा की है:—

एक चित्त अर्थात् ज्ञान से नियत पदार्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि एक ज्ञान का नियत यदि पदार्थ को माना जाय तो उस चित्त का अन्य विषय में सञ्चार मानने पर अस्वरूप वह वस्तु किसी से अगृहीत स्वभाव वाले उस पदार्थ का क्या स्वरूप होगा? ऐसी ज्ञान स्वरूप वस्तु के न रहने पर वस्तु को अलीक मानना पड़ेगा। घट को ग्रहण करने वाला चित्त जब पट का ग्राहक होगा, तब ज्ञानाकार घट नहीं रहेगा, अर्थात् घट का नाश ही उस समय मानना होगा, किन्तु अनुभूति ऐसी नहीं होती है, अतः उपादान कारण नियत पदार्थ है, चित्त नियत पदार्थ नहीं है ॥ १६ ॥

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

ज्ञान यदि वस्तु का प्रकाशक होने से ग्रहण स्वभाव है और अर्थ प्रकाश्य होने से ग्राह्य स्वभाव है, अतः एक ही साथ सभी अर्थों का ग्रहण और स्मरण क्यों नहीं करते हैं, पदार्थ कभी भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है, इस आशङ्का के उत्तर में यह सूत्र कहा गया है:—

चित्त और उसके भिन्न होने पर कभी किसी को चित्त ग्रहण करता है, विषय का उपराग अर्थात् नाम और आकार के समर्पण के योग्य सम्बन्ध से सापेक्ष होने के कारण विषय ज्ञात और अज्ञात होता है। जिस विषय से चित्त उपरक्त अर्थात् सम्बद्ध होता है, वह विषय ज्ञात होता है और अन्य विषय

अज्ञात होता है। वृत्ति अर्थात् ज्ञान में विषय के द्वारा अपने आकार का समर्पण ही विषय की ज्ञातता है। इन्द्रिय प्रणालिका से विषय से उपरक्त चित्तवृत्ति अविभक्त रूप को प्राप्त कर चित्तिशक्ति अर्थ का अनुभव करती है, किन्तु, वह अर्थ में किसी प्रकार के प्राकाट्य का आधान नहीं करती है, सर्वगत चिति चित्त और आहङ्कारिक इन्द्रिय है और इससे विषय का सदा सम्बन्ध भी रहता है, तथापि जिस शरीर में वृत्तिमान् चित्त आदि हैं उसी से विषयों का सम्बन्ध होता है। इसीलिए भाष्यकार ने कहा है कि अयस्कान्तमणि के समान विषय हैं और अयस्कान्त सदृश चित्त से अभिसम्बद्ध होकर विषय का उपरञ्जन करती है।

आशय यह है कि जडस्वभाव विषय है और वह इन्द्रिय प्रणालिका से चित्त से सम्बद्ध होता है, चित्तवृत्त्यात्मक उपजायमान घटादि ज्ञान इन्द्रिय के द्वारा समागत अर्थ का उपराग सहकारी कारण के रूप में अपेक्षित होता है, अतिरिक्त विषय के साथ सम्बन्ध न होने से उनके ग्रहण में असमर्थ होता है, अतः, बाह्य विषयाकार ज्ञान विषय को लेकर विषय से सम्बद्ध होकर अपने कारण चित्त में तादात्म्यता-सम्पन्न होता है, इस समय चित्त भी विषय से सम्बद्ध होता है, इस प्रकार का चित्त दर्पण चितिशक्ति के प्रतिबिम्ब से उपसंक्रान्त होकर विषय सम्बद्ध ज्ञायमान होकर अर्थ का अनुभव करती है, अतः जिस विषय से चित्त उपरक्त होता है, वह विषय ज्ञात होता है, जो विषय चित्त से उपसंक्रान्त नहीं होता है, वह अज्ञात रहता है। चित्त की ज्ञानात्मिका वृत्ति परिणाम है। इसीलिए चित्तको परिणामी माना गया है ॥ १७ ॥

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

चित्त और अर्थ के भेद की परीक्षा कर चित्त और पुरुष के भेद की परीक्षा की जा रही है।

प्रमाता पुरुष जिस समय नील को जानता है उस समय पीत को नहीं जानता है, अतः पुरुष का भी कादाचित्कत्व एवं ग्रहीता रूप होने से आकार ग्रहण करने से उसके परिणामित्व की प्राप्ति होती है। अर्थात् परिणाम धर्मक अर्थ और चित्तवृत्ति है इसके विपरीत पुरुष अपरिणामी एवं चेतन है, चित्त उसका विषय है।

पूर्व में प्रदर्शित क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्रता इन चार अवस्थाओं से युक्त चित्त है, निरोध तक सदा वृत्तिमान् चित्त का अनुभव करता है, यदि पुरुष परिणामी होता तो वह भी चित्त के समान ज्ञात और अज्ञात विषय होता, पुरुष सदा ज्ञात विषय है, अतः, अपरिणामी है। उस चित्त का ग्रहीता पुरुष की प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति स्वरूप चित्तवृत्तियाँ सभी

काल में ज्ञेय रहती हैं। यतः, सवृत्तिक चित्त सदा ज्ञात रहता है। अतः, पुरुष अपरिणामी है, इसका अनुमान कराता है। ये वृत्तियाँ यदि ज्ञात स्वभाव नहीं रहें तो वृत्तिता उसमें नहीं रहेगी। विषयीपुरुष विषयभूत चित्त के समान रहे तो पुरुष-विषय वृत्तियाँ ज्ञात और अज्ञात रहेंगी। ज्ञाता यदि परिणामशील रहे तब वह कभी ज्ञाता और कभी अज्ञाता रहेगा और उसकी विषय चित्त वृत्तियाँ भी कभी ज्ञात और कभी अज्ञात रहेगी, अतः पुरुष अपरिणामी है ॥ १८ ॥

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

वृत्तियाँ ही सत्त्व के उत्कर्ष से अग्नि के समान स्वप्रकाश हैं, अतः अपना और अर्थ का प्रकाश करती है, बुद्धि से अतिरिक्त पुरुष को प्रकाशक मानने की क्या आवश्यकता है—बौद्धों की इस आशङ्का के उत्तर में इस सूत्र की अवतारणा की गई हैः—चित्तवृत्तियाँ स्वप्रकाश नहीं है, अपने प्रकाशक के विना प्रकाश व्यवहार में सक्षम नहीं है। क्योंकि, द्रव्य के समान वह दृश्य अर्थात् जड है। दृश्य अनुभव-व्याप्य होता है और जो अनुभव व्याप्य होता है, वह अपना प्रकाशक नहीं होता है, उसकी अपने में वृत्ति नहीं रह सकती है। स्वयं क्रिया, कर्म और कर्ता नहीं हो सकता है। पाक और पाचक एक नहीं हो सकता है, पुरुष अनुभव का कर्म नहीं है। अतः पुरुष में स्वयं प्रकाशता का विरोध नहीं है। अन्य के अधीन प्रकाशत्व न होना ही पुरुष की स्वप्रकाशता है, अनुभव कर्मता स्वप्रकाशता नहीं है। मैं जानता हूँ इत्यादि अनुभव के आधार पर पुरुष की अनुभव व्याप्यता के रूप में प्रतीति होती है, किन्तु यह अनादि अविद्या के कारण चिति-प्रतिबिम्बता ही है। मैं क्रुद्ध हूँ, मेरा इस पर क्रोध है, इत्यादि ज्ञान से दृश्यभूत क्रोधादि बुद्धि होती है—यह मानना होगा। यह द्रष्टा की नहीं है, इसलिए चित्त दृश्य है और दृश्य होने से वह स्वयं प्रकाश न होकर जड स्वरूप है ॥ १९ ॥

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

पूर्वोक्त दृश्यत्व हेतु साध्य व्यभिचारी है, क्योंकि चित्त में दृश्यत्व ही नहीं है। अपने ज्ञान के संवेदन से पुरुष में हित प्राप्ति और अहित परिहार रूप वृत्तियाँ देखी जाती हैं—जैसे मैं क्रुद्ध हूँ, मैं भीत हूँ, मेरा राग है आदि ज्ञान बुद्धि के असंवेदन में सम्भव नहीं है। अतः अपना और विषय का प्रकाश चित्त में होता है। इस आशङ्का के उत्तर में इस सूत्र को कहा गया है—विषय का प्रकाश और अपना प्रकाश बौद्धों ने चित्त का स्वीकार किया है, किन्तु, जिस व्यापार से अपना अवधारण उसी से विषय का भी अवधारण

यह सम्भव नहीं है, क्योंकि समान अर्थात् अविलक्षण व्यापार से कार्यभेद उपपन्न नहीं हो सकता है, अतः व्यापार का भेद मानना पड़ेगा। उत्पत्ति से अतिरिक्त उस मनमें व्यापार नहीं है, एक उत्पत्ति से कार्य का भेद नहीं हो सकता है। एक से उत्पत्तिद्वय भी सम्भव नहीं है, अतः अर्थ और चित्त का एक समय अवधारण नहीं हो सकता है।

विषय का प्रकाश करने वाला चित्त यदि अपना भी प्रकाश करे तब एक ही क्षण में अपना स्वरूप विषयरूप का अवधारण मानना पड़ेगा। किन्तु, ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता है। क्योंकि, जिस व्यापार से चित्त का स्वरूप "अहमस्मि" (मैं हूँ) इसका अवधारण होता है, उससे भिन्न अन्य व्यापार से ही विषय का अवधारण होना चाहिए। चित्त अपना और विषय का भी प्रकाशक न हो तब स्वरूप और अन्य रूप दोनों का प्रकाशन एक क्षण में एक साथ होगा, किन्तु, ऐसा नहीं होता है, अतः चित्त विषय का ही प्रकाशक है, अपना प्रकाशक नहीं होता है ॥ २० ॥

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २१ ॥

बुद्धि के द्वारा चित्त का स्वयं ग्रहण न होने पर भी एक वृत्ति का अन्य बुद्धिवृत्ति के द्वारा अर्थात् सन्तान परम्परा में वर्तमान अन्य बुद्धि के द्वारा उसका ग्रहण हो जायगा अतः कोई आपत्ति नहीं है। इसके सामाधान में इस सूत्र की अवतारणा की गई है:—

चित्त अर्थात् बुद्धि, पूर्व-पूर्व चित्त का, उसके बाद में वर्तमान अन्य चित्त के द्वारा प्रकाश मानने पर इस धाराक्रम में अन्तिम चित्त को अग्राह्य मानना पड़ेगा, अज्ञात अन्तिम बुद्धि अपनी पूर्ववर्ती बुद्धि के प्रकाशन में समर्थ नहीं हो सकती है, यदि उसकी ग्राहक अन्यबुद्धि की कल्पना की जाय तो उसके लिए भी अन्य बुद्धि की कल्पना की जायगी, फलतः अनन्त कल्पना क्रम में अनवस्था दोष होगा एवं पुरुष के जीवन में अर्थ की प्रतीति की सम्भावना नहीं रह जायगी। अप्रतीत ज्ञान से अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है। यह दोष क्षणिकवादी बौद्धों के यहाँ है, योगदर्शन में सभी वृत्तियों को ग्रहण करने वाला एक व्यापक चित्त मानने के कारण कोई दोष नहीं है।

स्मृतिका साङ्कर्य्य दोष भी बौद्धों के पक्ष में अनिवार्य है। रूप, रस आदि के अनुभव के समय रूप और रस आदि की ग्राहिका अनन्त बुद्धियाँ उत्पन्न होगी, इन बुद्धियों से उत्पन्न संस्कारों से एक साथ अनेक स्मृतियाँ होगी, ऐसी स्थिति में बुद्धि का पर्यवसान न रहने के कारण, अर्थात् अनन्त ज्ञान की धारा रहती है, उन संस्कारों से अनेक स्मृतियाँ एक साथ उत्पन्न होगी,

किस अर्थ में यह स्मृति उत्पन्न हुई है, इसका निश्चय नहीं हो सकता है। किस क्षण से युक्त ज्ञान के संस्कार से यह स्मृति उत्पन्न हुई है।

पूर्व क्षण के ज्ञान से जन्य यह स्मृति है या उसके उत्तर क्षण के ज्ञान से जन्य यह स्मृति है, इस प्रकार किस अर्थ में यह स्मृति उत्पन्न है—यह जानना सम्भव न होने से स्मृतियों का साङ्कर्य होगा अर्थात् यह रूप की स्मृति है या रस की स्मृति है—इसका निर्धारण सम्भव नहीं है। अर्थात् असङ्कीर्ण एक स्मृति का ज्ञान सम्भव नहीं होगा। अतः, चित्त को ग्रहण वाले चित्त की कल्पना युक्त नहीं है।

अनन्त वृत्तियों की कल्पना की अपेक्षा नित्य चैतन्य के मानने में लाघव है, अतः स्वप्रकाश व्यापक ज्ञान है। भाष्य में भी कहा है—"येऽपि सांख्य-योगादयः स्वप्रकाशं ज्ञानमिति वदन्ति ते स्वशब्देन तत्स्वामिनं पुरुषं भोक्तारं गृह्णन्ति"।

बुद्धि को स्वप्रकाश न मानने पर और अन्य बुद्धि के द्वारा उसका ग्रहण न माना जाय तो विषय ज्ञान का व्यवहार कैसे उपपन्न होगा ? इस आशङ्का के उत्तर में अपना सिद्धान्त व्यक्त करते हुए कहा है:—

चेतन का परिणाम नहीं होता है, संक्रमण का अर्थ वृत्ति-परिणाम होता है। अपरिणामी चेतन पुरुष होने से अप्रतिबिम्बित चेतन परिणामी अर्थ स्वरूप की बुद्धि वृत्ति है, वह चिति शक्ति के सन्निधान में बुद्धि जब उसकी आकारता को प्राप्त करती है अर्थात् चेतन के समान होती है। सदा एक रूप एवं स्वप्रतिष्ठित रूप में व्यवस्थित उस अप्रतिबिम्बित चिति शक्ति का परिणामी अर्थस्वरूप जो बुद्धि वृत्ति उसके द्वारा भेद-ग्रह होने पर भी चेतन आकारता के समान होने पर बुद्धिवृत्ति के द्वारा ज्ञान करती है। जब बुद्धि का प्रति सञ्चरण अर्थात् प्रतिबिम्बिन होता है तब चिति शक्ति=चेतन पुरुष के उससे रहित होने पर भी बुद्धि और उसकी वृत्ति से भेद ग्रह होने से बुद्धि वृत्ति के सञ्चार से सञ्चरण युक्त के समान अर्थात् विषयाकार वृत्ति के द्वारा अनाकार भी उसके आकार के रूप में होने में सम्पन्न होता है।

जैसे चन्द्र के न रहने पर भी जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र को निर्मल चलायमान जल अचल चन्द्र को चलायमान के रूप अवभासित करता है इसी प्रकार चेतन पुरुष के व्यापार के विना भी संक्रान्त अनङ्ग चेतन को प्रतिबिम्बित चित्त बुद्धि अपनी क्रिया से चेतन क्रियावान् के समान अवभासित करती हुई भोक्ता के स्वरूप का उसमें आधान कराती है ॥ २१ ॥

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार बुद्धि के ज्ञान के द्वारा चित्त दृश्य होता है, और उस दृश्यत्व से चित्त का परिणामित्व सिद्ध है, उससे अतिरिक्त पुमान् (चेतन पुरुष) की अपरिणामिता सिद्ध है। स्व-संविदित चित्त सभी अर्थों के ग्रहण में समर्थ होने से सभी व्यवहारों के निर्वाह में सक्षम होता है। इसी विषय का प्रतिपादन करते हुए इस सूत्र की अवतारणा की जा रही है।

द्रष्टा पुरुष चित्त या बुद्धि से उपरक्त होकर उसके सान्निध्य से उस स्वरूपता को प्राप्त कर दृश्य सम्बद्ध, जब गृहीत विषय के आकार में परिणत होता है, तब वही चित्त सभी अर्थों के ग्रहण में समर्थ होता है।

जैसे निर्मल स्फटिक या दर्पण ही प्रतिबिम्ब के ग्रहण में समर्थ होता है, इसी प्रकार रजोगुण और तमोगुण से अनभिभूत सत्त्व गुण (बुद्धि) शुद्ध होने से प्रतिबिम्ब के ग्रहण में समर्थ होता है। अशुद्ध होने के कारण रजो गुण और तमोगुण प्रतिबिम्ब के ग्रहण में समर्थ नहीं होते हैं। तमोगुण और रजोगुण जहाँ तिरष्कृत अर्थात् सत्त्वगुण के बाहुल्य से अभिभूत हैं, सत्त्वगुण का प्राधान्य अर्थात् अङ्गी के रूप में सत्त्व गुण निश्चल प्रदीप की ज्योति के रूप में सदैव एक रूप में परिणत होता हुआ चेतन पुरुष की छाया के ग्रहण का सामर्थ्य प्राप्त कर मोक्ष की प्राप्ति तक अवस्थित रहता है। जैसे चुम्बक= अयस्कान्त मणि के सान्निध्य में लोहे में गति आरम्भ होती है, इसी प्रकार चिद्रूप चेतन पुरुष का सान्निध्य होने पर सत्त्व का अभिव्यङ्ग्य चैतन्य अभिव्यक्त होता है। इस दर्शन में चित् शक्ति दो प्रकार की है।

१ नित्य उदित।
२ अभिव्यङ्ग्य।

नित्य उदित शक्ति चेतन पुरुष है, और उसके सन्निधान से अभिव्यक्त अभिव्यङ्ग्य चैतन्य सत्त्व अभिव्यङ्ग्य चित् शक्ति है। इस अभिव्यङ्ग्य चित् शक्ति के कारण अन्तरङ्ग पुरुष का भोग्यत्व सम्पन्न होता है। शान्त ब्रह्मवादी सांख्यों के द्वारा परमात्मा पुरुष की यही अधिष्ठेय कर्मानुरूप सुख दुःख भोक्तृता के रूप में व्यवहृत होती है। अनुद्रिक्त होने से एक गुण का ही कभी किसी के अङ्गी के रूप में होने से प्रतिक्षण तीनों गुणों का परिणाम होता है।

सुख दुःख मोहात्मक अनिर्मल किये गये कर्मों के अनुरूप शुद्ध, सत्त्व में अपने आकार के समर्पण के द्वारा संवेदन योग्य सम्पन्न करता है। वह शुद्ध प्रथम चित्त सत्त्व (बुद्धि) एक तरफ चेतन प्रतिबिम्ब से युक्त दूसरी ओर से

विषय के आकार में प्राप्त अपने आकार से चेतन के प्रतिबिम्बन से चेतन होकर अर्थात् वास्तव में चैतन्य के विना भी सुख दुःख मोह का अनुभव करता है। यही भोग अतिशय सान्निध्य के कारण दोनों में भेद का ग्रहण न होने से अभोक्ता अकर्ता चेतन पुरुष के भोग के रूप में व्यवहृत होता है। प्रतिबिम्ब में प्रतिबिम्बमान सदृश छाया की उत्पत्ति को प्रतिबिम्ब शब्द से कहा जाता है। इसी प्रकार सत्त्व में भी पुरुष (चेतन) की छाया के सदृश चित् की अभिव्यक्ति प्रतिसंक्रान्ति शब्द का अर्थ है निर्मल नियत परिणाम का निर्मल में प्रतिबिम्ब देखा गया है। जैसे—मुख का दर्पण में। अतिशय निर्मल व्यापक अपरिणामी पुरुष का उस अतिशय निर्मल से मलिन सत्त्व में प्रतिबिम्ब कैसे उपपन्न होता है ? प्रतिबिम्ब के स्वरूप की अवगति न होने के कारण ऐसा कहा गया है। सत्त्व गत अभिव्यङ्ग्य चित् शक्ति का पुरुष के सान्निध्य से जो अभिव्यक्ति है उसे ही प्रतिबिम्बन कहा जाता है। जैसी पुरुषगत चित् शक्ति रहती है उसकी छाया वैसी ही उत्पन्न होती है।

किन्तु यह भी कथन ठीक नहीं है अतिशय निर्मल पुरुष का अनिर्मल सत्त्व में प्रतिबिम्बन कैसे हो सकता है—यह शङ्का भी ठीक नहीं है। निर्मलता के कारण अपकृष्ट जल आदि में आदित्य आदि का प्रतिसंक्रमण उपलब्ध होता है। अनवच्छिन्न अर्थात् व्यापक की प्रतिसंक्रान्ति नहीं हो सकती है—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्यापक आकाश का ऐनक, जल आदि में प्रतिबिम्ब देखा जाता है। अतः आकाश का जल आदि में प्रतिबिम्ब देखने के कारण निराकार के प्रतिसंक्रमण में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।

सात्त्विक परिणाम रूप बुद्धि सत्त्व में पुरुष के सान्निध्य से अभिव्यङ्ग्य चित् शक्ति का बाह्य अर्थाकार संक्रान्ति में पुरुष को सुख दुःख रूप भोग होता है—यह कथन भी ठीक नहीं है। वही चित्त सत्त्व अपरिणत प्रकृति में क्यों होता है और किस लिए प्रकृति का परिणाम होता है ? पुरुष के लिए अर्थ का उपभोग सम्पादन प्रकृति के द्वारा करना है। अतः पुरुष के प्रयोजन रूप कर्तव्यता के लिए प्रकृति का परिणाम उचित है, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पुरुषार्थ की कर्तव्यता ही अनुपपन्न है। पुरुषार्थ मुझे करना चाहिए (पुरुषार्थो मया कर्तव्यः) इस प्रकार का निश्चय ही पुरुषार्थ कर्तव्यता है। जड प्रकृति का इस प्रकार का अध्यवाय प्रथम कैसे हो सकता है, यदि ऐसा निश्चय प्रकृति में माना जाय तो वह जड कैसे रहेगी ? अनुलोम और प्रतिलोम रूप दो परिणामों में दो स्वाभाविक शक्तियाँ हैं, वही पुरुषार्थ कर्त्तव्यता कही जाती है; और यह शक्ति अचेतन प्रकृति में भी स्वाभाविक

है। महत् (बुद्धि) तत्व से लेकर पञ्च महाभूत तक प्रकृति बहिर्मुख होने से अनुलोम परिणाम है, पुनः अपने कारण में अनु प्रवेश से अस्मिता पर्यन्त परिणाम प्रतिलोम परिणाम है। इस प्रकार पुरुष का आभोग परिणाम समाप्त होने से सहज दोनों शक्तियों के नाश से प्रकृति कृतार्थ होकर पुनः परिणाम आरम्भ नहीं करती है। इस प्रकार की पुरुषार्थ कर्तव्यता जड प्रकृति में भी मानने पर कोई अनुपपत्ति नहीं है। यदि प्रधान = प्रकृति की यह स्वाभाविक शक्ति है तब मोक्ष की अभिलाषा करने वाले मोक्ष के लिए क्यों यत्न करते हैं ? और मोक्ष प्रार्थनीय नहीं रहेगा तो मोक्ष के उपदेशक शास्त्र का आनर्थक्य प्राप्त होगा ?

पुरुष और प्रकृति का जो यह अनादि भोक्ता और भोग्य रूप सम्बन्ध है, उसके रहने पर व्यक्त चेतन प्रकृति में कर्तृत्व का अभिमान होने से दुःख का अनुभव होने पर मेरे दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति कैसे हो यह निश्चय ज्ञान होता है, इसलिए दुःख की निवृत्ति के उपायों के उपदेशक शास्त्रों के उपदेश की अपेक्षा प्रधान को होती है; वैसे ही कर्म के अनुरूप बुद्धि-सत्व शास्त्र के उपदेश का विषय है। दर्शनान्तर में भी इसी प्रकार का अविद्या का स्वभाव माना गया है। मोक्ष के लिए प्रयत्नशील इसी प्रकार के सहकारी शास्त्र के उपदेश की अपेक्षा कर मोक्ष रूप फल को प्राप्त करता है। सभी कार्य, सामग्री के द्वारा ही स्वरूप लाभ करता है। प्रतिलोम परिणाम से उत्पाद्य मोक्ष रूप कार्य की सामग्री अवश्य ही अन्य प्रकार से अनुपपन्न है, यह प्रमाण के द्वारा निश्चित है। अतः इसके विना कैसे 'मोक्ष' हो सकता है ? अतः यह मानना ही पड़ेगा कि बुद्धि-सत्त्व विषय के उपराग का संक्रमण और चित् की छाया की अभिव्यक्ति प्राप्त कर विषय निश्चय के द्वारा अशेष लोक यात्रा का निर्वाह कराता है। इस प्रकार के चित्त (बुद्धि) को देखता हुआ भ्रान्त स्वसंवेदन चित्त है और चित्त मात्र ही जगत् है—यह कहता हुआ प्रतिबोधित होता है। हृदयावच्छिन्न चित्त में हृदयावच्छिन्न चैतन्य का अविभाग पूर्वक अभिव्यक्ति प्रतिबिम्बितत्व है, उस अवच्छेद से उस अभिव्यक्त का चित्त के वैधर्म्य से ज्ञान होता है।

'द्रव्य को मैं जानता हूँ' द्रव्य के समान ही ज्ञाता को भी प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित कराता है, इसी प्रकार पुरुष के प्रतिबिम्ब से प्रतिबिम्बित चित्त और द्रष्टा को भी प्रत्यक्ष रूप से उपस्थापित कराता है। मन का सम्बन्ध केवल विषय के साथ नहीं है, अपि तु विषयी पुरुष के साथ भी वह अपनी वृत्ति के द्वारा सम्बद्ध है, जैसे एक ही स्फटिक मणि पास में स्थित जपा और इन्द्र नील के प्रतिबिम्बन और अपने रूप के साथ तीन रूप में प्रतिभासित होता

है। अर्थात् वस्तु के सान्निध्य में उस रूप में प्रतीयमान अंश में यह दृष्टान्त है। प्रकृत में चित्त भी विषय और आत्मा के प्रतिबिम्ब से ग्रहण, ग्राह्य और ग्रहीता के रूप में प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार प्रकृत में द्रष्टा दृश्य से प्रतिबिम्बित होने से वह सर्वार्थक कहा जाता है। यह चैतन्य-प्रतिबिम्बन बौद्धों को भी मानना उचित है, क्योंकि चित्त से अतिरिक्त चेतन को मानने वाले वैभाषिक ने बाह्यार्थ को मानकर चैतन्य का आरोप किया है। विज्ञानवादियों ने बुद्धि से अभिन्न होने पर भ्रम के कारण ग्राह्य, ग्राहक और संविद् का भेद दृष्टिगोचर होता है यह माना है। आशय यह है कि चित्त की सर्वरूपता होने पर बाह्य अर्थ और पुरुष को मानने की क्या आवश्यकता है? अनादि वासना के कारण स्वयं ही चित्त का अनन्त परिणाम हो जायगा, क्योंकि भ्रान्ति बीज उन्होंने मान ही लिया है। सभी आकारों में ज्ञान होना ही बौद्धों के लिए चित्त को आत्मा मानने में भ्रान्ति का कारण है। चित् शक्ति में भी चित्त के समान ही सभी वस्तुओं को प्रतिबिम्बित होने से समानरूपता ही विषय गत दोष के प्रपञ्च में आरोप का साधन है, अतः विषय और असाधारण कारण के भ्रम मात्र से कल्पित होने से भ्रम से पूर्व इनका अभाव इन लोगों ने माना है; अतः वे उसके मूल हैं। घट मैं जानता हूँ, इस अनुव्यवसाय में सुख दुःख परिणाम स्वरूप भोग्य दृश्य भी चित्त और चित्प्रतिबिम्ब का आधार होने से उनके अभेद के कारण आत्मा भ्रम है—यह बौद्धों ने माना है। ऐसी स्थिति में सभी आकार-निर्भास चित्त का ही होने से प्रदर्शित उपपत्ति से चित्त से अतिरिक्त पुरुष को मानकर अष्टाङ्ग योग के उपदेश से आत्म प्रज्ञा समाधि में अवतीर्ण कराकर उन्हें बोधन कराना चाहिए। समाधि प्रज्ञा में ज्ञेय अर्थभूत आत्मा जो प्रतिबिम्ब रूप है, वह चित्त के आलम्बनभूत उस आत्मा से भिन्न है। चित्त से अभिन्न एक ही उसका आलम्बन होता है—यह मानने पर सत् आत्मस्वरूप अर्थ चित्त स्वरूप होगा, उससे अतिरिक्त नहीं हो सकता है। ऐसी प्रज्ञा ही प्रज्ञा रूप का अवधारण कैसे करेगी? इसलिए प्रज्ञा में प्रतिबिम्बित प्रतिबिम्ब रूप से जायमान अर्थ जो ज्ञानाकार है, वह जिससे गृहीत होता है, वही पुरुष है। अतः ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य चित्त भेद से ये तीनों परस्पर विजातीय हैं, इस रूप में जो अवगत करते हैं, वे ही समीचीन ज्ञानवान् हैं, उन्होंने ही पुरुष स्वरूप को अवगत किया है, अन्य पुरुषार्थ-भ्रष्ट भ्रान्त व्यक्ति हैं ॥ २२ ॥

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

चित्त से अतिरिक्त आत्मा है इस विषय की सिद्धि के लिए अन्य साधन को उपस्थित करते हुए इस सूत्र की अवतारणा की गई है।—असंख्य कर्म-

वासना और क्लेशवासना चित्त का ही आश्रयण करती है पुरुष को आश्रयण नहीं करती है। वासना के अधीन विपाक चित्त के आश्रित होने से चित्त की भोक्तृत्व सिद्ध करती है, भोक्ता के लिए ही भोग्य होता है, अतः सभी चित्त के लिए ही प्राप्त होता है, किन्तु असंख्य वासना के कारण चित्त के अनेक आकार में होने पर भी अन्य के भोग और अपवर्ग के लिए ही वे हैं, क्योंकि अन्य की सहायता से ही वे अर्थक्रियाकारी होते हैं।

आशय यह है कि देह, इन्द्रिय आदि सहकारियों से मिलकर भोग आदि कार्य करते हैं, जिनसे मिलकर कार्यकारी होते हैं, वे अन्य के प्रयोजन के लिए होते हैं, जैसे गृह आदि खम्भे आदि से संहत होकर घर स्वयं उसमें निवास नहीं करता है, अपितु उसमें अन्य व्यक्ति निवास करते हैं। इसी प्रकार प्रकृत में गुण बुद्धि आदि भी दूसरे के लिए है, प्रकृति गुण पुरुष के लिए है। संहत्यकारी होने से बुद्धि आदि अन्य के लिए हैं, घर के समान। जो जिसका भोक्ता रहता है, वह उससे असंहत रहता है, जैसे घर का मालिक। इसलिए गुणों का असंहत शुद्ध निष्कल स्वार्थ चिद्रूप सिद्ध होता है। संहत्य-कारी पदार्थों को संसार में भी दूसरे के लिए ही देखा गया है। भोग और अपवर्ग के विना प्रकृति न तो रह सकती है और न उसका परिणाम ही हो सकता है। पुरुषार्थ समाप्ति के बाद चित्त का प्रकृति में विलय के बाद मोक्ष की प्राप्ति होती है, वह पुरुषार्थ चैतन्य रूप है, अतः चैतन्य के लिए अन्य की अपेक्षा नहीं करती है। पुरुष की न तो अन्य कोइ अर्थ-क्रिया-कारिता है और न संहत्यकारिता ही है।

यदि यह कहा जाय कि चित्त संहत भी करेगा और स्वार्थ भी करेगा इसमें कहाँ विरोध है। संहत्यकारी चित्त स्वार्थ के लिए नहीं हो सकता है। क्योंकि सुख चित्त या भोग चित्त बुद्धि के भोग के लिए नहीं हो सकता है। इसी प्रकार तत्व ज्ञान चित्त या अपवर्ग चित्त ज्ञान के लिए अर्थात् चित्त के अपवर्ग के लिए नहीं हो सकता है। बुद्धिस्थ भोग और अपवर्ग जन्य होने से सार्थकत्व की दृष्टि से अनवस्था दोष ग्रस्त होगा। जो कार्य है वह सार्थक है, यही सर्व सम्मत सिद्धान्त है, अतः चित्त का योग और अपवर्ग ये दोनों ही परार्थ हैं यह सिद्ध है। पुरुष का भोग और अपवर्ग चैतन्य स्वरूप होने से उसको कार्य नहीं माना जा सकता है, क्योंकि स्वरूप स्थितिजन्य नहीं है, अतः अनवस्था दोष का अवसर ही नहीं है; उसका भोग सुखादि का भोग साक्षात्कार है और अपवर्ग विवेकख्याति साक्षात्कार या स्वरूपावस्थिति है अर्थात् चैतन्य मात्र ही अपरिणामित्व और निर्धर्मत्व होने से स्वरूप की अवस्थिति है ॥२३॥

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

कैवल्य के मूल बीज युक्तिमय आत्म दर्शन का निरूपण कर उसके उपदेश से अधिकृत पुरुष अनधिकृत पुरुष से अन्य है। इस विषय की अवतारणा करते हुए इस सूत्र को लिखा है :—

विशेषदर्शी विवेक साक्षात्कारी की आत्म-सत्ता की भावना जिज्ञासा है। बुद्धि से अतिरिक्त चिन्मात्र मैं पुरुष हूँ—इसका ज्ञाता ही विशेष द्रष्टा है।

आशय यह है कि जिसको आत्मभावना है, उसको अष्टाङ्ग योग के उपदेश से उसके अनुष्ठान में तत्पर योगी परिपाक से चित्त सत्त्व और पुरुष के विशेष ज्ञान से मैं कौन था, क्या मैं रागादि सम्पन्न नहीं था ? मैं कैसा था दुःख के साथ था, मेरा वर्तमान स्वरूप देह या मन आदि या मैं किस प्रकार से पुण्य पाप आदि से संलिप्त था ? यह वर्तमान स्थिति है। कैसा होउँगा आदि आत्म-भावना समाप्त हो जाती है और जिसको आत्मभाव-भावना नहीं है, ऐसा नास्तिक उपदेश का अधिकारी नहीं है, सर्वथा आत्मभाव और परलोक भाव से शून्य होने के कारण उपदेश से न तो उसको विशेष दर्शन होता है और न आत्म-भावना की निवृत्ति ही होती है।

चित्त में रहने वाली आत्म-भाव-भावना की अवगति कैसे होती है, इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि जैसे वर्षा ऋतु में तृण से अङ्कुर की उत्पत्ति से बीज की सत्ता का अनुमान होता है, वैसे ही मोक्षमार्ग के श्रवण से जिसको रोमाञ्च एवं अश्रुपात होता है, उसमें विशेष दर्शन बीज अपवर्गात्मक कर्मों से सम्पादित है—यह अनुमान किया जाता है। ऐसे पुरुष को रोमाञ्च आदि साधनों से पूर्वकालीन तत्त्वदर्शन बीज अपवर्ग प्राप्ति के साधन अष्टाङ्ग योगानुष्ठान रूप कर्म या उसके एक भाग का अनुष्ठान सम्पादित है—यह अनुमित होता है, ऐसे व्यक्ति में आत्मभाव-भावना स्वाभाविक है, अतः वस्तु के ज्ञान के विना भी प्रवृत्ति होती है। यह सत्य है कि पूर्व जन्म में कर्म के अनुष्ठान के अभाव से स्वाभाविक आत्मभाव-भावना नहीं होती है। पूर्व जन्म में शुभ कर्मों के अभाव में नित्य देह आदि आत्मभाव में रुचि रहती है, और पचीस तत्त्व निर्णय में अरुचि रहती है, विशेष दर्शन से कैसे इसकी निवृत्ति होती है ? इस आशङ्का के उत्तर में कहा गया है कि चित्त का यह विचित्र परिणाम भावरूप परिणाम है, विशेष दर्शन से असत्य अविद्या में शुद्ध चित्त धर्म दुःख जन्म मरण आदि से अपरामृष्ट पुरुष है, अतः विशेष दर्शन से आत्मभाव-भावना निवृत्त होती है, उसकी निवृत्ति होने से स्वर्ग नरक आदि में रागद्वेष आदि की भी निवृत्ति होती है ॥ २४ ॥

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥ २५ ॥

इस प्रकार विशेष दर्शन होने पर विवेक मार्ग में सञ्चरणशील कैवल्य की ओर अभिमुख होता है। जो चित्त अविवेक मार्ग से सञ्चरण शील होकर विषय की ओर अभिमुख था वह चित्त इस समय विवेक मार्ग में सञ्चरण करता हुआ कैवल्य की ओर अग्रसर होता है।

आशय यह है कि बुद्धि और पुरुष का भेद ज्ञान होने पर मैं इससे भिन्न हूँ—यह विशेष दर्शन करता है, चित्त स्वरूप का ज्ञान होने पर चित्त में जो आत्म भावना है—वह निवृत्त होती है, चित्त ही कर्त्ता, ज्ञाता और भोक्ता हैं इस अभिमान की निवृत्ति होती है ॥ २५ ॥

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

विशेष दर्शन सिद्ध होने पर विवेक मार्ग में सञ्चरण करता हुआ कैवल्य की ओर अभिमुख होता है, जो चित्त अविवेक मार्ग अर्थात् विषय की ओर सञ्चरणशील था, वह योगी का चित्त विवेक मार्ग की ओर सञ्चरण करने लगता है। और कैवल्य की ओर अग्रसर होता है ॥ २६ ॥

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

विवेक सम्पन्न चित्त यदि विवेकनिष्ठ नहीं रहता है तो वह अनेक विघ्नों से परिपूर्ण हो जाता है; अतः, उसके कारण का प्रतिपादन करते हुये उसके परित्याग का कारण बता रहे हैं :—

प्रकृति और पुरुष के भेद ज्ञान मात्र में प्रवहमान चित्त के मध्य में पूर्ण अनुभव जन्य संस्कार से मैं, मेरा आदि ज्ञान उत्थित होने लगता है, अतः, उनका परित्याग करना चाहिये। अर्थात् पूर्व व्युत्थान अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से क्षीण बीज के समान मैं मनुष्य हूँ, मेरा घर है, मेरा शरीर है आदि अविद्यारूप कार्य उत्पन्न होने लगते हैं। अतः, केवल सत्व पुरुष के भेद ज्ञान के साथ सम्प्रज्ञात योग ही पर्याप्त ज्ञान नहीं है, अपितु अन्य ज्ञान के विरोध के लिए परवैराग्य की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाले असम्प्रज्ञात की प्राप्ति के लिए भी सचेष्ट रहना चाहिए ॥ २७ ॥

हानमेषा क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

विवेक ज्ञान होने पर भी व्युत्थान संस्कार यदि अन्य ज्ञान को उत्पन्न करते हैं तो उनके निवारण के लिए क्या उपाय है ? जिससे अन्य ज्ञान पुनः उत्पन्न न हो, इस दृष्टि से इस सूत्र की अवतारणा की जा रही है :—

अविद्यादि का नाश पूर्व में कहा गया है; उसी प्रकार संस्कार का भी

दाह अर्थात् जले हुए बीज के समान अङ्कुर के उत्पादन का असामर्थ्य सम्पादन करना चाहिए।

आशय यह है कि स्थूल और सूक्ष्म क्लेशों का तत्त्वज्ञान और चित्त के लय से दाह और नाश कहा गया है। अपरिपक्व विवेक ज्ञानी योगी को अक्षीयमाण व्युत्थित संस्कार अन्य ज्ञान को उत्पन्न करते हैं, किन्तु परिपक्व विवेक ज्ञान से क्षीण संस्कार अन्य ज्ञान के उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते हैं, जैसे प्राचीन क्लेश संस्कार ज्ञान के समय ज्ञान संस्कार रूपी प्रतिबन्धक के कारण अविद्यादि वृत्तियाँ विवेक ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध होने से अन्य संस्कारों को उत्पन्न नहीं करती हैं, वैसे ही पूर्व व्युत्थान संस्कार भी विवेक ज्ञान रूपी अग्नि से जल जाने के कारण जले हुए बीज के स्वरूप में होने से अन्य ज्ञान को उत्पन्न नहीं करते हैं। व्युत्थान संस्कार का विवेक ज्ञान के संस्कारों से निरोध करना चाहिए और विवेक संस्कार का पर वैराग्य संस्कारों से लय होने पर ज्ञान संस्कारों का चित्त अधिकार समाप्त हो जाता है अर्थात् चित्त के साथ उसका भी विलय हो जाने से उसके निरोध के लिए उपाय की आवश्यकता नहीं रहती है ॥ २८ ॥

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥२९॥

व्युत्थान के निरोध में उपाय प्रसंख्यान का प्रदर्शन कर उसके निरोध के उपाय के निरूपण के लिए इस सूत्र की अवतारणा कर रहे हैं :—

प्रसंख्यान अर्थात् छब्बीस तत्वों की आलोचना से सम्प्राप्त बुद्धि और पुरुष के भेद ज्ञान रूपी विवेक ज्ञान से विवेक साक्षात्कार उसमें अकुसीद = कुत्सित अर्थात् विपर्यों के कारण रोग युक्त कुसीद है, इससे रहित अकुसीद अर्थात् सभी पदार्थों के अधिष्ठातृत्व आदि प्रसंख्यान फल की प्राप्ति की इच्छा न रखनेवाला परिणामित्व दोष के देखने से विरक्त योगियों को व्युत्थान संस्कार नहीं होता है, अन्य योगों के न होने से निरन्तर विवेक ख्याति के उदय से धर्ममेघ नामक सम्प्रज्ञात योग की चरम परम समाधि होती है। आशय यह है कि सभी तत्त्वों की जो यथाक्रम में व्यवस्थिति है उनके परस्पर विलक्षण स्वरूप की अवधारणा कर फल के प्रति सर्वथा निराकाङ्क्ष होकर अन्य ज्ञान का उदय न होने से सभी प्रकार की विवेक ख्याति होने पर धर्ममेघ समाधि होती है।

अशुक्ल और अकृष्ण कैवल्य फल सम्पादक धर्म का मेहन सिञ्चन करने वाली समाधि धर्ममेघ समाधि है। अर्थात् क्लेश कर्म विपाक आदि के उन्मूलन धर्म अर्थात् स्वरूप साक्षात्कार रूप का वर्षण करने वाली समाधि धर्ममेघ समाधि

होती है, इसी की सूचना गीता की इस पङ्क्ति से प्राप्त है–"अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् । जिस योग से आत्मदर्शन हो वह श्रेष्ठ धर्म है । संस्कार रूप बीज का क्रमशः विलय होने से विलय के कारण जब अन्य अविद्यारूप ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है, तब धर्ममेघ समाधि होती है । इसकी अभि-व्यक्ति के लिए ही यह कहा गया है । प्रसंख्यान से विरक्त पुरुष उसके निरोध की इच्छा करता है और धर्ममेघ समाधि की साधना करता है जिससे उनका सर्वथा निरोध करने में समर्थ होता है ॥ २९ ॥

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

इस धर्ममेघ समाधि से अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पाँचों क्लेशों की निवृत्ति होती है । क्लेश आदि का अपने संस्कार के साथ विलय होने पर भोग मात्र से समाप्त होने वाले प्रारब्ध कर्मों से अतिरिक्त कुशल और अकुशल कर्माशय समूल विलीन हो जाते हैं । क्लेश कर्मों की निवृत्ति होने पर जीवित रहता हुआ भी विद्वान् मुक्त हो जाता है, क्योंकि विपर्यय ही = मिथ्या ज्ञान या अविद्या ही संसार का कारण है, विपर्यय-रहित व्यक्ति जाति आदि से सम्पन्न कहीं उत्पन्न नहीं होता है, क्लेश कर्म वासना स्वरूप कर्माशय ही जाति आदि का कारण होता है, और कारण के न रहने पर कार्य हो ही नहीं सकता है । वीतराग का जन्म आदि नहीं होता है "वीतरागजन्माऽदर्शनात्" ॥ ३० ॥

तदा सर्वावरणमलाऽपेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

धर्ममेघ समाधि में कैसा चित्त रहता है, इसके विवेचन के लिए इस सूत्र की अवतारणा की गई है ।

धर्ममेघ समाधि होने पर अर्थात् जीवन्मुक्तावस्था में चित्त सत्त्व जिनके द्वारा आवृत (ढक) किये जाते हैं ऐसा जो क्लेश कर्म रूप आवरण मल उससे रहित चित्तसत्त्व की व्यापकता से ज्ञेय अर्थात् प्रकाशन योग्य तत्त्व उसकी अपेक्षा अल्प अर्थात् नगण्य हो जाता है । अर्थात् जिससे जाना जाय इस व्युत्पत्ति से चित्त सत्त्व ही ज्ञान है उसके अपरिमेय = असीम होने से ज्ञेय तत्त्व उसकी अपेक्षा अल्प रहता है अर्थात् कोई भी ऐसा ज्ञेय तत्त्व नहीं है जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता है—सभी ज्ञेय तत्त्व प्रत्यक्ष रहते हैं । जैसे शरत् काल में मेघमुक्त चन्द्र-किरणें सर्वत्र परिव्याप्त रहती हैं और उस अनन्त प्रकाश में घटादि सभी प्रकाशित होते हैं, इसी प्रकार रजोगुण और तमोगुण रहित चित्त-सत्त्व के अनन्त प्रकाश में प्रकाश्य पदार्थ कम रहते हैं । अर्थात् इन पचीस तत्त्वों से अतिरिक्त भी तत्त्व रहते तो उनका भी प्रकाश हो ही जाता,

ज्ञेय की अल्पता से अन्य का प्रकाश नहीं होता है, सत्त्व की अल्पता के कारण अन्य का प्रकाश नहीं होता है—ऐसी बात नहीं है ।। ३१ ।।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ।। ३२ ।।

धर्ममेघ की पराकाष्ठा ज्ञान प्रसाद मात्र है अर्थात् धर्ममेघ-परिपाक स्वरूप ज्ञान प्रसाद से हथेली पर रखे गये आमले के समान निर्दोष पुरुष का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हुए निर्मल जल में स्थित जड अविशुद्ध प्रकृति विकार दृश्य विषय के अन्तर्गत अशुद्धि विनाश आदि दोषों को प्रकट करते हुए निर्बीजयोग निधि को प्राप्त करना ही तपस्वी का परवैराग्य है। यह परवैराग्य व्युत्थान समाधि-संस्कार क्लेश कर्माशय को क्यों नहीं उत्पन्न करता है एवं गुण जो विकारकरणशील हैं वे उस पुरुष के भोग आदि को क्यों नहीं उत्पन्न करते हैं—इस दृष्टि से इस सूत्र की अवतारणा की है—

इस धर्ममेघ समाधि के उदय होने से जिसका पुरुषार्थ समाप्त हो गया है ऐसे कृतार्थ गुणों का क्लेश कर्मादि की परवैराग्य के उदय से निवृत्ति हो जाने से सत्त्वादि गुणों का कृतार्थ पुरुष के प्रति परिणाम क्रम समाप्त हो जाता है अर्थात् भोग साधन परिणाम पुनः नहीं होता है। भोग और अपवर्ग होने पर परिणाम का क्रम समाप्त हो जाने से गुण क्षण भर के लिए भी उसके लिए अवस्थित नहीं रहते हैं। गुणों का यह स्वभाव है कि जिस पुरुष के प्रति वे कृतार्थ हो जाते हैं उस पुरुष के प्रति वे पुनः प्रवृत्त नहीं होते हैं ।। ३२ ।।

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ।। ३३ ।।

इस परिणाम-क्रम का क्या स्वभाव है ?

पूर्व धर्म के नाश होने पर अन्य धर्म की उत्पत्ति परिणाम है; उसका क्रम पूर्वापरीभाव है—इसीको परिणाम-क्रम कहते हैं। क्षण का प्रतियोगी क्षण कला का अंश है, प्रतियोगी प्रति सम्बन्धी जिसका निरूपक है उस क्षण समूह का आश्रय परिणाम क्रम है। क्रमवान् के विना क्रम का निरूपण नहीं हो सकता है। एक ही क्षण का क्रम नहीं हो सकता है। क्षणसमूह का आश्रय परिणाम क्रम है अर्थात् क्षण से अव्यवहित। भाष्य में 'क्षणानन्तर्यात्मा' शब्द का प्रयोग किया है। आनन्तर्य अर्थात् अव्यवधान, क्षण से अव्यवधान ही है स्वरूप जिसका यह अर्थ उपलब्ध होता है।

नागेश भट्ट ने यह आशङ्का की है कि परिणाम समाप्ति यह न कहकर परिणामक्रम कहा गया है, इस क्रम शब्द के प्रयोग का आशय व्यक्त करते हुए लिखा है कि परिणामों का प्रतिक्षण उत्पाद विनाश कहने से वैराग्य का

उत्पादन सम्भव है। इस प्रसङ्ग में क्रम शब्द पूर्वापरीभाव का बोधक नहीं है। अपितु क्षण है प्रतियोगी प्रतिसम्बन्धी जिसका वह अर्थात् क्षणप्रचयाश्रय यह अर्थ विवक्षित है, अतः पौर्वापर्यमात्र अर्थ विवक्षित नहीं है। अर्थात् क्षण से अव्यवहित परिणाम धारा परिणाम क्रम धारा है। यही कारण है कि यत्न पूर्वक रक्षित नवीन वस्त्र कुछ समय में पुराना हो जाता है। अतः परिणाम की अनवच्छिन्न परिणाम धारा जिसका अपराह्ण में पर्यवसान होता है, इसका अनुमान होता है, वस्त्र के अवसान में दृश्यमान प्राचीनता सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर, सूक्ष्म स्थूलादि रूपों से परिणाम क्षणों में अनवरत क्रम का अनुमान होता है। मिट्टी में पिण्ड, घट, कपालचूर्णकणों के प्रत्यक्ष परिणामों का पूर्वान्त पिण्ड है और अपरान्त कण है, इस प्रकार पूर्व अपर अवधि का ग्रहण कर क्रम निश्चित कर ग्रहण करना चाहिए।

यदि यह कहा जाय कि अपरान्त से अनित्य वस्तुओं में ही क्रम सिद्ध होता है, प्रधान के नहीं, क्योंकि, प्रकृति = प्रधान नित्य है, अतः उसकी अन्तिम अवस्था उपलब्ध नहीं है, इसलिए गुणों के परिणाम क्रम में क्या प्रमाण है, जिससे उसकी पूर्व सूत्र में कही गई उसकी समाप्ति समन्वित होगी? यह सत्य है कि नित्य वस्तु का स्वतः अपर अन्त अर्थात् अवसान का अभाव होने पर भी विकारों के अपरान्तों से ही प्रतिक्षण परिणाम क्रम अनुमित होता है। किन्तु नित्यता दो प्रकार की होती है, एक कूटस्थ नित्यता और दूसरी परिणाम नित्यता। पुरुष की कूटस्थ नित्यता है और गुणों की परिणाम नित्यता है।

यदि यह कहा जाय कि परिणामी का सदा ही अन्य स्वरूप होता रहता अर्थात् स्वरूपच्युति होती है, ऐसी स्थिति में गुणों को नित्य कैसे कहा जा सकता है। जिसका परिणाम होने से तत्त्व का अपना स्वरूप अतीत अवस्थापन्न नहीं होता है वैसा ही नित्यत्व यहाँ स्वीकृत है। धर्मी तत्त्व से धर्म, लक्षण और अवस्था का उदय-व्यय-धर्मत्व अविद्या से होता है। अतीतता-शून्यत्व ही नित्य का सामान्य लक्षण है। यह नित्यत्व गुण और पुरुष दोनों में समन्वित होता है। गुण धर्म बुद्धि आदि में अपरान्त अर्थात् पर्यवसान पुरुष का साक्षात्कार स्वरूप परिणाम क्रम है। इसलिए परिणाम अर्थात् नित्य में निरवधिक परिणामक्रम मुक्त पुरुष के प्रति समाप्त हो जाता है, किन्तु बद्ध व्यक्ति के प्रति चलता ही रहता है। परिणाम आपरान्त चलता है, किन्तु परिणामक्रम पर्यवसान को प्राप्त करता है; क्योंकि यह विनाशी है। नित्य धर्मी गुण में वह पर्यवसान प्राप्त नहीं करता है। कूटस्थ नित्य स्वरूप मात्रमें प्रतिष्ठित रूप है; मुक्तपुरुष में स्वरूप का अस्तित्व क्रम से अनुभूत होता है।

आशय यह है कि स्वरूप अस्तित्व और तत् तत् क्षणमात्र परिणाम क्रम पुरुष में भी है, इस समय स्थित होकर पश्चात् स्थित होगा यह व्यवहार होने के कारण, अन्यथा सभी काल में सम्बन्ध रूप नित्यता की अनुपपत्ति होने से वहाँ पर्यवसान लाभ नहीं करेगी।

वस्तुतः मुक्तों की अस्तिक्रिया को लेकर अवास्तव ही परिणाम मोह से कल्पित ही है। सृष्टि ज्ञान के प्रवाह से गुणों में वर्तमान संसार के क्रम की समाप्ति होती है यह नहीं है ? यदि होती तो पर्यवसान लाभ नहीं करती— इस कथन का विरोध होगा। यदि यह नहीं है तो गुणों के परिणाम की समाप्ति होती है—इस सूत्र के कथन का विरोध होगा एवं अन्त में विश्व माया की निवृत्ति होती है "भूयश्चान्ते विश्वमाया-निवृत्तिः" इस श्रुति का विरोध होगा।

यदि आनन्त्य के कारण संसार की परिसमाप्ति नहीं होती है—यह मानते हैं, तब महाप्रलय के समय सभी प्राणियों का संसार कैसे सहसा समाप्त हो जाता है और सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हो जाता है। इसलिए एक आत्मा की मुक्ति के मार्ग से सभी का विमोक्ष होने से सभी का नाश और संसार क्रम से प्रधान परिणाम की समाप्ति—इस प्रकार प्रधान की भी अनित्यता की प्राप्ति होगी। किसी अपूर्व सत्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, जिससे आनन्त्य होगा, ऐसी स्थिति में अनादित्व का व्याघात होने से सभी शास्त्रार्थों के भङ्ग का प्रसङ्ग होगा। इसके समाधान में कहा गया है कि कृतार्थ पुरुष के लिए ही गुणों के परिणाम क्रम की समाप्ति होती है, सामान्य रूप में समाप्ति नहीं होती है। इस प्रकार सृष्टि आदि के प्रवाह का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता है—यही सिद्धान्त है ॥ ३३ ॥

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चिति-शक्तिरिति ॥ ३४ ॥

कृत-कृत्यता होने से भोग और अपवर्ग सम्पादित हो जाने से बुद्धि आदि गुणों का अपने कारणभूत प्रधान में लय होता है। गुणों के व्युत्थान समाधि निरोध, संस्कार, मन में लीन हो जाते हैं मन अस्मिता में, अस्मिता लिङ्ग में, लिङ्ग अलिङ्ग में यह जो कार्यकारण स्वरूप गुणों का प्रतिसर्ग होता है वह प्रधान का केवलत्व जिस किसी पुरुष विशेष के प्रति होता है, उस पुरुष के साथ पुनः उसका असंयोग ही होता है अर्थात् चिति शक्ति स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है। चिति शक्ति स्वरूपता से तात्पर्य जवाकुसुम आदि असम्बद्ध स्फटिक की स्वरूप प्रतिष्ठा के समान ही है। बुद्धि सत्त्व रूप उपाधि-शून्यता-रूप ही स्वरूप प्रतिष्ठा पुरुष का कैवल्य है।

आशय यह है कि भोग अपवर्ग स्वरूप पुरुषार्थता गुणों की समाप्ति होने के बाद प्रतिलोम परिणाम की समाप्ति के बाद विकार की अनुत्पत्ति है, अथवा चिति शक्ति वृत्ति सरूपता की निवृत्ति होने के बाद स्वरूप मात्र में अवस्थिति ही कैवल्य है। केवल योग दर्शन में ही जीव की कैवल्य अवस्था में इस प्रकार चित्स्वरूपता की प्राप्ति नहीं होती है, अपितु सभी दर्शनों में यही स्वरूप है।

संसार दशा में आत्मा कर्तृत्व भोक्तृत्व के अनुसन्धाता के रूप में प्रतीत होता है। अन्यथा यदि यह एक जीव क्षेत्रज्ञ वैसा न हो तो पूर्वापरानुसन्धान-शून्य-ज्ञान-क्षणों का आत्म स्वरूप में नियत कर्म फल का सम्बन्ध होगा, फलतः, कृतहान और अकृत की प्राप्ति का प्रसङ्ग होगा। शास्त्र के द्वारा उपदिष्ट कर्मों का जो अनुष्ठान करता है, उसी के द्वारा उसके फल का भोग किया जायगा तब हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिए सभी प्रवृत्तियाँ होंगी, सभी व्यवहारों का हान और उपादान स्वरूप का अनुसन्धान से ही व्याप्त होने के कारण ज्ञान क्षणों का परस्पर भेद के अनुसन्धान से शून्य होने में उसके अनुसन्धान की अवस्था में किसी के भी व्यवहार की उपपत्ति न होने से, कर्त्ता, भोक्ता और अनुसन्धानता की ही आत्मा के रूप में व्यवस्था होती है। मोक्ष की स्थिति में सभी ग्राह्य, ग्राहक क्षण के व्यवहार का अभाव रहने से चैतन्य मात्र ही अवशिष्ट रहता है। वह चैतन्य चिति मात्र से ही उपपन्न होता है, आत्म संवेदन के द्वारा वह उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि विषय ग्रहण सामर्थ्य ही चिति का स्वरूप है आत्म-ग्राहकत्व उसका स्वरूप नहीं है। चिति के अर्थ का ग्रहण होने पर 'यह' 'अयम्' इस रूप में स्वरूप गृहीत होता है, अहम् अर्थात् मैं इस रूप में स्वरूप का ग्रहण नहीं होता है। एक का ही बहिर्मुख अन्तर्मुख रूप में दो परस्पर विरुद्ध व्यापार नहीं हो सकता है। एक साथ दो व्यापारों का करना असम्भव होने से चिद्रूपता ही अवशिष्ट रहती है। इसलिए मोक्ष की अवस्था में गुणों का अधिकार निवृत्त हो जाने पर चिद्रूप आत्मा अवशिष्ट रह जाता है। संसार की अवस्था में इसी का कर्तृत्व भोक्तृत्व और अनुसन्धातृत्व यह तीनों उपपन्न होते हैं। यह जो प्रकृति के साथ अनादि स्वभाविक भोग्य-भोक्तृत्व रूप सम्बन्ध अविवेक ख्याति के कारण है, उसके रहने पर पुरुषार्थ और कर्तव्यता रूप दो शक्तियों के रहने पर जो महत् आदि के रूप में परिणाम होता है, उसके संयोग से आत्मा का अधिष्ठातृत्व चित् के प्रतिबिम्बन का समार्थ्य एवं बुद्धि सत्त्व का संक्रान्त चित् के प्रतिबिम्ब के ग्रहण का सामर्थ्य चित् से युक्त बुद्धि का कर्तृत्व, भोक्तृत्व

का निश्चय इसी से सभी के अनुसन्धान के साथ व्यवहार की उपपत्ति हो जाने से व्यर्थ की अनेक कल्पना की आवश्यकता नहीं है।

यदि इस मार्ग के विना भी पारमार्थिक कर्तृत्व आदि स्वीकार किया जाय तो उसका परिणाम भी मानना पड़ेगा। परिणाम मानने पर उसकी अनित्यता अनिवार्य है और वह आत्मा ही नहीं रहेगा। एक ही समय में एक रूप में ही परस्पर विरुद्ध अवस्था का अनुभव सम्भव नहीं है। जिस अवस्था में आत्मा में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान सुख की उत्पत्ति होने से उसका अनुभव कर्तृत्व रहेगा। उसी अवस्था में दुःख का अनुभव कर्तृत्व भी रहेगा और यह सम्भव नहीं है, इस लिए अनेक अवस्थाएँ माननी होगी, उनसे अभिन्न अवस्थावान् को भी अनेक मानना होगा, अनेक मानने पर परिणाम मानना होगा, परिणाम मानने पर वह आत्मा नहीं हो सकता है। नित्यत्व भी नहीं है, क्योंकि, सान्त ब्रह्मवादी सांख्यों ने मोक्ष दशा और संसार दशा में आत्मा का एक रूप माना है।

वेदान्तियों ने चैतन्यमय और आनन्दमय आत्मा को मोक्ष में माना है, उनका पक्ष भी ठीक है। आनन्द सुख रूप है और सुख की सदा ही ज्ञायमान के रूप में प्रतीति होती है, संवेद्यमानता संवेदन के विना उत्पन्न नहीं हो सकती है, अतः सम्वेद्य और सम्वेदन इन दोनों को मानने पर अद्वैत सिद्धान्त का व्याघात होगा यदि सुख स्वरूप मान कर समन्वय किया जाय, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि, विरुद्ध धर्मों के अध्यास के कारण यह उपपन्न नहीं हो सकता है। संवेदन और संवेद्य एक कैसे हो सकता है? अद्वैतवाद में कर्मात्मा जीव और परमात्मा के भेद से आत्मा का दो भेद माना है। ऐसी स्थिति में जिस रूप से सुख दुःख भोक्तृत्व कर्मात्मा अर्थात् जीव है उसी रूप से परमात्मा को भी माना जाय तो जीवात्मा के समान परमात्मा को भी परिणामी और अविद्या स्वभाव का मानना पड़ेगा। यदि साक्षात् भोक्तृत्व उसमें नहीं है, अपितु उससे सन्निहित उदासीन रूप से अधिष्ठातृत्व होने के कारण ही उसका भोक्तृत्व है; ऐसा मानने पर योग दर्शन के सिद्धान्त का ही समर्थन होगा। आनन्द रूपता सम्भव नहीं है इसका विवेचन पूर्व में ही किया गया है।

यदि अविद्या स्वभाव माना जाय तो जीव को निःस्वभाव मानना पड़ेगा, ऐसी स्थिति में शास्त्र का कौन अधिकारी है? नित्य निर्मुक्त होने से परमात्मा और अविद्यास्वभाव होने से जीव है—यह मानने पर सभी शास्त्रों का वैयर्थ्य होगा। सम्पूर्ण जगत् को अविद्यामय मानने पर, यह अविद्या किसकी है—यह विचारणीय है। अविद्या परमात्मा की है—यह ठीक नहीं है, क्योंकि

परमात्मा नित्य, मुक्त और विद्यास्वरूप है। कर्मात्मा भी पारमार्थिक दृष्टि से निःस्वभाव होने से शशविषाण स्वरूप अविद्या के साथ सम्बन्ध उसका कैसे सम्भव है ?

यदि यह कहा जाय कि अघटित-घटना पटीयसी ही अविद्या अर्थात् अविचार रमणीयत्व ही अविद्या का अविद्यत्व है; जो विचार से ही दिनकर किरण के स्पर्श से ओस के समान विलय प्राप्त करती है—वही अविद्या है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि, जो कुछ कार्य करती है, वह अवश्य ही किसी से भिन्न और अभिन्न होती है, अविद्या में संसार रूप कार्य का कर्तृत्व है—यह तो अवश्य ही मानना होगा। संसाररूप कार्य का कर्तृत्व रहने पर भी यदि यह अनिर्वाच्य है तो किसी से वाच्यत्व नहीं रहेगा, ऐसी स्थिति में ब्रह्म भी अवाच्य ही रहेगा, अतः अधिष्ठातृत्व रूप से अतिरिक्त कोई भी आत्मा का स्वरूप उपपन्न नहीं हो सकता है। और अधिष्ठातृत्व चित् स्वरूप है, उससे अतिरिक्त किसी धर्म की प्रमाण से उपपत्ति नहीं हो सकती है।

नैयायिकों ने आत्मा को चेतना के सम्बन्ध से चेतन माना है, और यह आगन्तुक चैतन्य मन के संयोग से उत्पन्न है। क्योंकि इच्छा, ज्ञान, प्रयत्न आदि गुण आत्मा और मन के संयोग से व्यवहार दशा में उत्पन्न होते हैं, इन्हीं गुणों के कारण वह स्वयं ज्ञाता कर्ता भोक्ता के रूप में व्यवहृत होता है। मोक्ष की अवस्था में मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होने पर मिथ्याज्ञान-मूलक राग, द्वेष आदि दोषों की निवृत्ति होती है, और विशेष गुण बुद्धि = ज्ञान आदि का अत्यन्त उच्छेद होने पर स्वरूप मात्र प्रतिष्ठित आत्मा होता है, यह माना है। किन्तु उनका यह पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि, उस दशा में नित्यत्व व्यापकत्व आदि गुण आकाशादि में भी है, अतः उससे विलक्षण आत्मा की चित् स्वरूपता माननी होगी। आत्मत्व जाति का सम्बन्ध उसमें रहेगा—यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सभी के साथ उस जाति का सम्बन्ध हो सकता है, अतः जाति से विलक्षणता आत्मा की माननी ही पड़ेगी और वह अधिष्ठातृत्व स्वरूप है, और उसको चित्स्वरूप ही मानना पड़ेगा।

मीमांसकों ने कर्म-कर्तृस्वरूप आत्मा को माना है, किन्तु उनका भी पक्ष ठीक नहीं है, उन्होंने अहं प्रत्यय से ग्राह्य आत्मा को माना है, अहं प्रत्यय में जो कर्तृत्व और कर्मत्व है—वह आत्मा का ही है, और विरुद्ध होने से यह उपपन्न नहीं हो सकता है, कर्तृत्व प्रमातृत्व है और कर्मत्व प्रमेयत्व है, इन विरुद्ध धर्मों का अध्यास एक जगह एक साथ सम्भव नहीं है। विरुद्ध धर्मों से अध्यस्त एक नहीं हो सकता है। जैसे भाव

और अभाव है वैसे ही कर्तृत्व और कर्मत्व है। यदि यह कहा जाय कर्तृत्व और करणत्व में विरोध रहता है। विरुद्ध धर्मों की उभयत्र समानता होने से कर्तृत्व और करणत्व के समान ही कर्तृत्व और कर्मत्व में भी विरोध रहेगा। अतः अहं प्रत्यय-ग्राह्यत्व को आत्मा न मानकर अधिष्ठातृत्व ही आत्मा में उपपन्न होता है और यह अधिष्ठातृत्व चेतनस्वरूप है। द्रव्य ज्ञान के पर्याय के भेद से अव्यापक आत्मा को शरीर परिमाण मान कर परिणामित्व स्वीकार किया गया है, किन्तु इस पक्षका उत्थान ही सम्भव नहीं है। परिणामी मानने पर चित्स्वरूपता की हानि होगी, और चिद्रूपता के अभाव में आत्मा में कैसा आत्मत्व रहेगा? अतः आत्मा का आत्मत्व चाहने वालों को उसको चित्स्वरूप ही मानना पडेगा और वह अधिष्ठातृत्व स्वरूप होगा।

किसी ने आत्मा को कर्ता माना है, विषय के सामीप्य में जो ज्ञान लक्षण क्रिया उत्पन्न होती है उसका फल विषय का ज्ञान है। उस फलरूप संवित् में प्रकाशरूप में स्वरूप भासमान होता है, ग्राह्य रूप में विषय का भान होता है और ग्राहक के रूप में आत्मा का भान होता है। मैं घट जानता हूँ, (घटमहं जानामि) यही उसका आकार माना है। क्रिया का कारण कर्त्ता ही होता है, अतः कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्मा का स्वरूप है। किन्तु, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उन ज्ञानों का कर्तृत्व उसमें एक साथ प्रतिपन्न होता है या क्रम से? एक साथ कर्तृत्व मानने पर अन्य क्षण में उसका कर्तृत्व नहीं होगा। क्रम से कर्तृत्व एक रूप में समन्वित नहीं हो सकता है, एक रूप में यदि उसका कर्तृत्व है तब उस एक रूपका सदा सान्निध्य रहने से सभी फल एक रूप के होंगे, यदि अनेक रूप में उसका कर्तृत्व माना जायेगा तब उसका परिणाम मानना पड़ेगा, और परिणामी चित्स्वरूप नहीं हो सकता है। अतः, आत्मा को चित्स्वरूप मानने पर उसका साक्षात् कर्तृत्व नहीं मानना पड़ेगा, अतः योग सम्मत कर्तृत्व ही कूटस्थ नित्य आत्मा में सम्भव है। इसलिए स्वप्रकाश आत्मा का विषय संवेदन के द्वारा ग्राह्यत्व की अभिव्यक्ति वह भी पूर्वोक्त विश्लेषण से ही सम्भव नहीं है।

शैवदर्शन के आचार्यों ने विमर्शात्मक शक्ति स्वरूप से आत्मा को चिन्मय माना है, उन लोगों का कहना है विमर्श के विना आत्मा की चित्स्वरूपता का निरूपण सम्भव नहीं है, जड से विलक्षणता ही चित्स्वरूपता है और और वह विमर्श के विना सम्भव नहीं है; यह भी ठीक नहीं है। 'यह इस प्रकार का है, (इदमित्थंरूपम्) यह विचार ही विमर्श है, उसका अस्मिता के विना उत्थान ही सम्भव नहीं है, क्योंकि, आत्मा में होने वाले विमर्श

से, ऐसा हूँ, (अहमेवम्भूतः) इसी प्रकार से संवेद्य मानना होगा। वहाँ अहं शब्दात्मक आत्म स्वरूप अर्थ का स्फुरण होने से विकल्प रूप का अतिक्रमण नहीं हो पाता है, विकल्प निश्चयात्मक (अध्यवसायात्मक) बुद्धि का धर्म है, चित् का धर्म नहीं है, चित् कूटस्थ नित्य है, वह सदा एकरूप रहेगा, अतः, अहंकार का प्रवेश वहाँ सम्भव नहीं है। अतः, आत्मा का विमर्शत्व प्रतिपादन करने पर बुद्धि की ही भ्रान्ति से आत्मा मानना पड़ेगा प्रकाशात्मक बुद्धि से अतिरिक्त पुरुष का स्वरूप अवगत नहीं होगा।

इसलिए अधिष्ठातृत्व से अतिरिक्त आत्मा का स्वरूप उपपन्न नहीं हो सकता है, अधिष्ठातृत्व चिद्रूपता है, यह जड से विलक्षण है; चिद्रूप से जो अधिष्ठित होता है, वही सभी व्यापार के योग्य होता है। इस प्रकार कृतकृत्य होने पर प्रधान के व्यापार की निवृत्ति होने पर जो योग सम्मत कैवल्य कहा गया है, उसी के अनुरूप दर्शनान्तर में भी मोक्ष सिद्ध होता है। अतः वृत्ति-सारूप्य-परिहार-पूर्वक चिति शक्ति की स्वरूप प्रतिष्ठा ही कैवल्य है।

इस प्रकार अन्य सिद्धियों से विलक्षण सभी समाधियों की सिद्धि को कह कर जात्यन्तर परिणाम स्वरूप सिद्धि विशेष का प्रकृति से पूरण ही कारण है, इसका उपपादन कर धर्म आदि प्रतिबन्धक रूप निवृत्ति में ही सामर्थ्य है, यह प्रदर्शन कर निर्माण चित् अस्मिता मात्र से उद्‌भूत है यह कहकर,-उनका योगियों का चित्त ही अधिष्ठापक है—यह प्रदर्शन कर, योगी के चित् को अन्य चित् से विलक्षण सिद्ध कर, उन कर्मों की अलौकिकता का उपादन कर विपाक के अनुगुण वासनाओं की अभिव्यक्ति का सामर्थ्य और कार्य और कारण के ऐक्य के प्रतिपादन से व्यववहित वासनाओं के आनन्तर्य का उपपादन कर, उनका आनन्त्य होने पर हेतु फल आदि के द्वारा हान का प्रदर्शन कर अतीत मार्गों में धर्मों का अस्तित्व उपपादन कर विज्ञानवाद का निराकरण कर साकारवाद की प्रतिष्ठा कर पुरुष का ज्ञातृत्व सिद्ध कर चित्त के द्वारा सभी व्यवहारों की निष्पत्ति को उपपन्न कर पुरुष की सत्ता के लिए प्रमाण का प्रदर्शन कर कैवल्य के निर्णय के लिए दशसूत्रों के द्वारा क्रमशः उपयोगी अर्थों का प्रतिपादन कर अन्य शाखाओं में भी यही कैवल्य है—इसका प्रतिपादन किया गया है।

भोजदेव एवं नागेश ने भी इसकी व्याख्या में इसी सरणि का अवलम्बन किया है॥

नवीन प्रकाशित दुर्लभ ग्रन्थ

१ श्रीमद्भगवद्गीता (गीता) मधुसूदन सरस्वती कृत संस्कृत टीका तथा सनातन देव कृत हिन्दी टीका (१९८३) राज संस्करण १५०-००
कार्ड बोर्ड संस्करण १००-००

२ नामलिङ्गानुशासनम् नाम अमरकोशः (कोश)। अमरसिंह कृत। भानुजी दीक्षित (रामाश्रय) कृत 'रामाश्रमी' (वाक्यसुधा) संस्कृत टीका तथा हरगोविन्दशास्त्री कृत 'मणिप्रभा' (प्रकाश) हि० टीकादि।
राज संस्करण २५०-०० कार्ड बोर्ड संस्करण १५०-००

३ काव्यप्रदीपः। म० म० श्रीगोविन्दप्रणीतः। वैद्यनाथ कृत टीका। पं० दुर्गाप्रसाद तथा वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर सम्पादित- (१९८२) ५०-००

४ वेदान्तसूत्रवैदिकवृत्तिः। स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनि विरचित। (१९८२) १५०-००

५ हरविजयम्। राजानक रत्नाकर विरचित। राजानक अलक कृत टीका सहित। पं० दुर्गाप्रसाद एवं काशिनाथ पाण्डुरङ्ग परव सम्पादित (१९८२) १००-००

६ चम्पूरामायण। राजाभोज कृत १-५ खण्ड तक, लक्ष्मणसूरि कृत छठवाँ खण्ड। रामचन्द्रबुधेन्द्र कृत टीका। वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर सम्पादित। (१९८२) ४०-००

७ भामिनीविलासः (काव्य) जगन्नाथ कृत। राधेश्याम मिश्र कृत 'प्रकाश' हिन्दी टीका। अन्योक्ति विलास-प्रस्ताविक विलास २५-००
संपूर्ण ६०-००

८ कामसूत्र (कामशास्त्र)। वात्स्यायन मुनि कृत। यशोधर कृत 'जयमंगला' संस्कृत। देवदत्त शास्त्री कृत हिन्दी टीकादि (१९८२) १५०-००

९ नारदसंहिता (ज्योतिष)। नारद महामुनि कृत। सान्वय, बिमला हिन्दी व्याख्या, व्याख्याकार-राम जन्म मिश्र (१९८२) ६०-००

१० नाट्यशास्त्रम् (नाट्य)। भरतमुनि कृत। सं० बटुकनाथ शर्मा एवं बलदेव उपाध्याय संशोधित (१९८२) सम्पूर्ण १००-००

११ योगसूत्रम् (योग) पतञ्जलि कृत। भोजराज कृत 'राजमार्तण्ड'-भावागणेश कृत 'प्रदीपिका'-नागोजि भट्ट कृत 'वृत्ति'-रामानन्द यति कृत-'मणिप्रभा' अनन्त देव कृत 'चन्द्रिका' तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती कृत 'योग सुधाकर' छः टीका। विस्तृत हिन्दी भूमिका डा० महाप्रभुलाल गोस्वामी (१९८२) ५०-००

१२ शारदातिलकम् (तंत्र)। लक्ष्मणदेशिकेन्द्र कृत। राघवभट्ट कृत 'पदार्थादर्श' टीका। मुकुन्द झा बक्शी कृत भूमिकादि तृ० सं० १००-००

१३ मनुस्मृतिः (धर्मशास्त्र)। कुल्लूक भट्ट कृत 'मन्वर्थमुक्तावली' टीका तथा हरगोविन्द शास्त्री कृत 'मणिप्रभा' हिन्दी टीका। गोपाल शास्त्री नेने कृत भूमिकादि युक्त (१९८२) १००-००